श्री अरविन्द का जीवन दर्शन

इन्द्रसेन

श्रीअरविन्द का जीवन-दर्शन

श्रीअरविन्द के
सिद्धान्तों का
सारगर्भित विवेचन

इन्द्रसेन

१९७३
सस्ता साहित्य मण्डल
प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

•

दूसरी वार : १९७३
मूल्य
रु० ३.५०

•

मुद्रक
विनोद प्रिंटिंग सर्विस द्वारा
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रकाशकीय

श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन से सम्बन्धित इस पुस्तक को प्रकाशित करने में हमें बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। 'मंडल' से अवतक हमने अनेक महापुरुषों तथा संतों का विचार-प्रेरक साहित्य प्रकाशित किया है और पाठकों ने उसे वहुत ही पसंद किया है। उसी शृंखला में यह एक नई कड़ी जुड़ रही है।

हमारे हर्ष का एक कारण और भी है और वह यह कि इस पुस्तक के लेखक न केवल भारतीय एवं विश्व-दर्शन के प्रकाण्ड पंडित हैं, अपितु उन्होंने योगिराज श्रीअरविन्द के सान्निध्य में रहकर उनकी विचार-धारा का गहराई से अध्ययन और मनन किया है। वह श्रीअरविन्द-आश्रम के आज भी अभिन्न अंग हैं। संभवत: यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि श्रीअरविन्द के दर्शन को उन्होंने अपने जीवन में जिया है।

श्रीअरविन्द हमारे देश की विरल विभूतियों में से थे। वह बड़े ही मेधावी पुरुष थे। उन्होंने राजनीति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अपना महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया, लेकिन अन्त में जब वह पांडिचेरी को अपना केन्द्र वनाकर साधना में लीन हो गए तो उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसके सम्मुख अन्य सिद्धियां गौण हो उठती हैं। मानव अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्म करता है, लेकिन उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है, उसे कहां पहुंचना है, इसकी जानकारी बहुत ही थोड़े लोगों को होती है। श्रीअरविन्द ने अपनी महान साधना के द्वारा कुछ नये तत्त्वों की खोज की। हम जानते हैं कि मानव ने जड़तत्त्व, प्राणमय जीवन तथा मन को अलग-अलग लेकर अपनी बुद्धि या मानसिक चेतना के आधार पर उनका वर्गीकरण और अध्ययन किया। इन्हें क्रमश: भौतिकशास्त्र, प्राणिशास्त्र और मानसशास्त्र या मनोविज्ञान की संज्ञा दी। लेकिन

श्रीअरविन्द यहीं नहीं रुके। उन्होंने कहा कि यह विकास-क्रम आगे बढ़ता जायगा और मन के ऊपर की चेतना में जा पहुंचेगा। इसे उन्होंने 'अति-मानस' कहा। उनका मानना था कि "इस प्रकार पृथ्वी पर एक नया प्रारूप उत्पन्न होगा और एक उच्चतर चेतना का कार्य होगा और एक नई जाति प्रकट होगी, जिसकी यह नई चेतना ही मुख्य तत्त्व होगी। चट्टान और खनिज में से वनस्पति उत्पन्न हुई, वनस्पति में से पशु-जगत् आया, पशु-जगत् में से मनुष्य का उद्भव हुआ और अब मनुष्य से अनिवार्य रूप में अतिमानव का प्रादुर्भाव होगा।" वास्तव में, श्रीअरविन्द की मौलिक योगसाधना की यह एक ऐसी उपलब्धि है, जिसके लिए समूचा मानव-समाज उनका चिर-ऋणी रहेगा।

श्रीअरविन्द ने विपुल साहित्य का सृजन किया है। उनके व्यक्तित्व तथा तत्त्व-दर्शन के विषय में दूसरों ने भी बहुत-कुछ लिखा है। उस साहित्य का अपना महत्त्व है, लेकिन प्रस्तुत पुस्तक की अपनी उपयोगिता है, क्योंकि इसके सीमित पृष्ठों में लेखक ने श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन का सार बड़े ही सुन्दर ढंग से दे दिया है। जिन्होंने श्रीअरविन्द का साहित्य नहीं पढ़ा, वे भी इस पुस्तक के पठन-पाठन से बहुत-कुछ पा सकेंगे। पुस्तक की एक विशेषता और है। इसे पढ़कर श्रीअरविन्द के विचारों को, उनके योग-दर्शन को, और अधिक जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

श्रीअरविन्द की जन्म-शताब्दी १५ अगस्त, १९७१ से चल रही है। कुछ समय पश्चात् उसका समापन हो जायगा, लेकिन श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन की प्रेरणा तो युग-युगान्तर तक अक्षुण्ण बनी रहेगी। उनका दर्शन सागर की भांति है। उसमें जितना गहरा जायंगे, उतने ही मूल्यवान् रत्न प्राप्त होंगे।

हमें पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक को सभी शिक्षित पाठक पढ़ेंगे और उसके विचारों का लाभ लेंगे।

—मन्त्री

विषय-सूची

यद्यपि श्रीअरविन्द अपना शरीर त्याग चुके हैं, तथापि वह अब भी, हमारे साथ, जीवित तथा सक्रिय रूप में विद्यमान हैं।

श्रीअरविन्द भविष्य के हैं, भविष्य के संदेश-वाहक हैं। दिव्य शक्ति के द्वारा निर्मित भव्य भविष्य को अधिक शीघ्रता से संसिद्ध करने के लिए वह अब भी हमारा मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

भारत के उज्ज्वल भाग्य तथा मानवता की प्रगति के हेतु जो व्यक्ति सहयोग करना चाहते हैं, उन सबको अतीन्द्रियदर्शी अभीप्सा और ज्योतिर्मय कर्म में संयुक्त हो जाना चाहिए।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द का जीवन-दर्शन

१

श्रीअरविन्द का जीवन-दर्शन

१ : : श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि

मानव के लिए उसका अपना जीवन, प्रत्यक्ष ही, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। जीवन क्या है तथा इसे कैसे सफल बनाया जा सकता है, इसे जानने से अधिक हितकर उसके लिए और क्या हो सकता है! फिर भी वह चिंता अधिक करता है—वस्तुओं की, संपत्ति की, धन की, घर-बार की। वह सुख चाहता है, परन्तु सुख क्या है? वह हमारी ही किसी अवस्था का नाम है अथवा वस्तुओं का गुण है, इसपर उसे विचार करने के लिए रुचि या समय नहीं। वह सहज ही सुख को वस्तुओं में अथवा उनपर निर्भर मानकर देखा-देखी उन्हें जुटाने में अपना समय और शक्ति लगाता चला जाता है, चाहे उसे बार-बार ही धक्के क्यों न लगें, बार-बार ही निराशा क्यों न आ घेरे, जीवन ही संकट में दिखाई क्यों न देने लगे।

मानव-स्वभाव में एक अपूर्व क्लिष्टता है। वह सुख अपने लिए चाहता है, परन्तु वह देखता बाह्य वस्तुओं की ओर है। उसकी दृष्टि बहिर्मुख है। जब उसे सुख-दुःख होते हैं, तो वह अपनी आंतरिक वृत्ति को नहीं पहचानता, वह बाह्य वस्तुओं को उनके कारण मानता और

बताता है। विकास-क्रम में सामान्यतया वृत्ति पहले बहिर्मुख ही होती है। शिशु और बालक का अधिकांश जीवन क्रिया और व्यवहार का जीवन होता है। वह चिंतन बहुत कम करता है और जितना करता भी है वह किसी बाह्य कठिनाई से संबद्ध होता है। युवक में चिंतन अच्छा विकसित हो जाता है, वह अपनी दुविधाओं और संघर्ष से तीव्र रूप में सचेत हो उठता है। परन्तु वह लड़ता है परिस्थिति के साथ ही, उसका दृष्टिकोण बहिर्मुख होता है। कई बार वह इस लड़ाई में हार खाकर बिल्कुल पीछे हट जाता है, समाज और परिस्थिति से विमुख दीखने लगता है, अपने अन्दर-ही-अन्दर रहने लगता है, परन्तु तब भी उसका दृष्टिकोण बहिर्मुख ही होता है। वह अपने दुःख का कारण अन्य लोगों और परिस्थिति को मानता है। वह निष्पक्ष भाव में, जैसे वह बाह्य वस्तुओं को देखता है, अपने-आपको देखने का यत्न नहीं करता और न अपने कष्टों के कारण मुख्यतया अपनी वृत्तियों में ढूंढ़ता है। परन्तु जहां पशु सर्वथा बहिर्मुख होता है, इन्द्रियों के विषयों से ही प्रेरित-प्रचालित होता है, वहां मनुष्य अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के संबंध में सजग हो सकता है तथा इसे सजगतापूर्वक परिस्थिति के क्षेत्र में प्रेरित-प्रचालित कर सकता है। बाहर से, प्राकृतिक तथा सामाजिक प्रभावों से, हांके जाने की अपेक्षा, प्रत्यक्ष ही, सजगतापूर्वक अपने व्यक्तित्व को परिस्थिति में स्वयं प्रचालित करना कहीं अच्छा है।

भारतीय संस्कृति और दर्शन की सामान्य प्रेरणा पहले अपने-आपको जानने की है। "आत्मानं विद्धि" यहां के ज्ञान तथा योग का प्रथम आदर्श रहा है। वेद ने अपने अमर शब्दों द्वारा इस अभीप्सा को जाति में जगाया। उपनिषदों में तो आत्म-जिज्ञासा जीवन का प्रथम तथा पूर्ण विषय बन गई। इस समय के आचार्यों और शिष्यों के लिए आत्मा और ब्रह्म विशेष रूप में ज्ञातव्य हो गए और वे इन्हें अपूर्व तन्मयता से खोजने लगे। पीछे के संस्कृत-साहित्य में तथा मध्यकालीन संतों की वाणी में भी भारतीय संस्कृति की यह प्रेरणा तथा भारतीय स्वभाव की यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है।

श्रीअरविन्द ने भी इसे अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया है। श्री-अरविन्द कहते हैं, "ऊपर के चंद्र-तारागण महान् दिखाई देते हैं, परन्तु कहीं अधिक महान् और अद्भुत वे चंद्र-तारागण हैं, जो हमारे अन्दर हैं।" आगे फिर वह कहते हैं, "आध्यात्मिक जिज्ञासु का पहला काम वहिर्मुख मन के दृष्टिकोण से हटकर अंतर्मुख मन से आंतरिक घटनाओं को देखना है, जो फिर शीघ्र ही प्रभावशाली तथा प्रेरणाप्रद सत्ताएं लगने लगती हैं। ऐसा करने पर उसे मालूम होने लगेगा कि यहां सत्य और ज्ञातव्य विषय का एक विस्तृत क्षेत्र है, जिसमें कोई आविष्कार-पर-आविष्कार करता हुआ अंत में परम आविष्कार तक पहुंच सकता है।"[1]

पश्चिम का दार्शनिक तथा सांस्कृतिक इतिहास एक दूसरा ही दृश्य उपस्थित करता है। वेदों में हम प्रकृति के लिए आश्चर्य का भाव खूब स्पष्ट देखते हैं। वेद कहता है, "पश्य देवस्य काव्यं, न ममार न जीर्यति।" (देख, यह देव का रचा हुआ प्रकृति का काव्य, जो नित्य नया और ताज़ा रहता है।) यूनान के विचारकों का प्रारंभिक भाव भी यही था। प्लेटो ने कहा था कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से होता है। हम सूर्योदय को अनुभव करते हैं, चंद्र और तारागण को निहारते हैं, हरी-भरी पृथ्वी तथा इसकी बदलती ऋतुओं को देखते हैं, नदी, पर्वत, पुष्प तथा वहुविध प्राणियों को देखते हैं और आश्चर्यचकित रह जाते हैं। हमें उन्हें जानने का कुतूहल होता है। इसीसे दार्शनिक विचार का उदय होता है। पीछे हर्बर्ट ने आश्चर्य की जगह शंका को दर्शन का प्रेरक भाव माना, परन्तु शंका का विषय भी वाह्य घटनाओं का आपसी विरोध था। पश्चिमी दार्शनिक इतिहास के सभी उतार-चढ़ावों में प्रधान वल वाह्य प्रकृति तथा सत्ता पर रहा है। यह तो नहीं कि भारतीय प्रेरणा वहां मानव-हृदय में कभी उठी नहीं, उठी वहुत है; मध्य युग में जवकि

---

१. लैटर्स आफ श्रीअरविन्द, भाग २, पृष्ठ ३०३

ईसाई धर्म का प्रवल प्रभाव था, यह प्रेरणा खूब वलवती थी। उससे पहले प्राचीन यूनान में भी सुकरात की शिक्षा में यह प्रवृत्ति मौजूद थी। परन्तु समग्र रूप में यूरोप के दार्शनिक तथा सांस्कृतिक इतिहास में अधिक वल प्रकृति को जानने पर रहा है, जैसे यहां अपने-आपको जानने पर।

परन्तु क्या जिज्ञासा के ये दोनों मार्ग उचित और सार्थक नहीं हैं ? चिरकाल तक हम भारत में एकांगी रूप में एक ही मार्ग को अपनाते रहे हैं और दूसरे को विमुखता का नाम देते रहे हैं। वैसे ये दोनों मार्ग विरोधी हैं भी नहीं, वल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं और यह तथ्य आज विज्ञान खूब प्रदर्शित कर रहा है। १९वीं शताब्दी में धर्म और विज्ञान में अत्यंत विरोध था—ऐसा विरोध जैसा जड़ और चेतन में; परन्तु गत ३०-४० वर्ष के अनुसंधान के फलस्वरूप आज स्थिति विल्कुल भिन्न है। भौतिक शास्त्र का कहना है कि जड़ जगत् किन्हीं कठोर अविभाज्य स्थूल परमाणुओं का वना हुआ नहीं है। परमाणु तो विद्युत्कणों का सूर्यमण्डल के समान गतिशील संगठन है। मूल तत्त्व विद्युत् है, जड़ता तो आभासमात्र है। कुछका तो कहना है कि विद्युत् का आधार भी कोई चित्-शक्ति ही हो सकती है। भारतीय शैली से चलकर क्या मानव किसी दूसरे परिणाम पर पहुंचा था ? आत्मा को जानने से हम ब्रह्म को जानते हैं, जो कि जगत् का चेतन तथ्य और आधार है।

वास्तव में जो चीज़ अनिवार्य है वह है जिज्ञासा की सच्चाई। यदि जिज्ञासा सच्ची है तो मानव चाहे अन्तर्मुखी ढंग से निज व्यक्तित्व के आंतरिक जगत् को जाने और उपलब्ध करे अथवा वहिर्मुखी शैली से वाह्य प्रकृति को जानने और अधिकृत करने का यत्न करे, अंत में वह दोनों अवस्थाओं में एक ही परिणाम पर पहुंचता है। दोनों शैलियां एक-दूसरी की पूरक हैं। दोनों ही यदि एकांगी रूप में ली जायं, तो कुछ दोषों को पैदा करती हैं। हमारी शैली में जगत् और ऐहलौकिक

जीवन की उपेक्षा हो जाती है और परिणामस्वरूप राजनैतिक सत्ता तथा आर्थिक अवस्था स्वभावतः विगड़ जाती है। पश्चिम की शैली में वाह्य ऐश्वर्य खूव विपुल होने पर भी जीवन संकट अनुभव करता है। इच्छाएं-आवश्यकताएं वढ़ जाती हैं और धन-सम्पत्ति एवं अधिकार के विना जीवन खतरे में दिखाई देता है, अतः चिंता और दोष जीवन के अनिवार्य अंग वन जाते हैं।

श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि का मर्म इन दोनों का अपूर्व दार्शनिक तथा यौगिक समन्वय है। श्रीअरविन्द के लिए व्यक्ति और जगत् घनिष्ठ रूप से संवद्ध हैं। व्यक्ति को अपने विकास-मार्ग का अनुसरण करते हुए भी समाज और जगत् को विकसित करना होता है, नहीं तो वैयक्तिक जीवन अपना पूरा आनन्द नहीं ले सकता। उसे आत्मा को प्राप्त करना होता है; परन्तु यदि वह अपने मन, प्राण और शरीर की, जो कि उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग हैं, उपेक्षा कर देता है, तो समाधि में तो वह आनन्द ले सकता है, परन्तु जव वह सामान्य व्यवहार के स्तर पर आता है तव प्रायः राग-द्वेषादि तथा सामान्य सुख-दुःख में पड़ जाता है। परन्तु हमारे व्यक्तिगत मन, प्राण और शरीर तो मानव-प्रकृति के सार्वभौम मन, प्राण और शरीर के वैयक्तिक रूप मात्र ही हैं। ये रूप पूर्णतया तवतक रूपान्तरित नहीं हो सकते जबतक मानव-प्रकृति के सार्वभौम तत्त्व में काफी परिवर्तन नहीं आ जाता। अतः व्यक्ति को, अपनी उन्नति चाहते हुए भी, समाज तथा जगत् को रूपान्तरित करना होगा। इसी प्रकार वाह्य जगत् से चलकर अंत में हम इसे अतिक्रांत कर जाते हैं।

पश्चिम की प्रवृत्ति प्रकृति के अध्ययन की रही है। विज्ञान और कला-कौशल के विकास ने यूरोप के सांस्कृतिक जीवन में एक अद्‌भुत स्थिति पैदा कर दी, वह यह कि मानव ने सुख-ऐश्वर्य के सभी साधन उपलब्ध कर लिये, परन्तु स्वयं उसको सुख नहीं मिला। इसके विपरीत, जीवन की भीड़-भाड़ और संघर्ष से स्नायविक रोग वढ़ने

लगे। इससे प्रश्न पैदा हुआ—मानवीय व्यक्तित्व का वास्तविक रूप-स्वरूप क्या है तथा स्वस्थ व्यक्तित्व कैसे विकसित किया जा सकता है? इस प्रकार गत शताब्दी में मनोविज्ञान का उदय हुआ और सामान्य सांस्कृतिक स्थिति से इसे इतना प्रोत्साहन मिला कि यह थोड़े-से समय में ही अत्यन्त प्रभावशाली और काफी समृद्ध विज्ञान बन गया। पश्चिमी मनोविज्ञान मानवीय व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अभी तक कुछ निश्चयात्मक ज्ञान नहीं जुटा सका, फिर भी इसका अनुसंधान आशाप्रद है। इस प्रकार पश्चिम में बाह्य प्रकृति से चलकर मानव अपने व्यक्तित्व के अध्ययन पर अनिवार्यतः आ पहुंचा है।

परन्तु क्या ये दोनों शैलियां—व्यक्ति को ज्ञान और सुधार का विषय मानना तथा प्रकृति को जिज्ञासा और अनुसंधान का विषय मानना—अपने-आपमें अपूर्ण और एकांगी नहीं हैं? वास्तव में ये दोनों व्यक्ति और प्रकृति, मानव और जगत्, समग्र सत्ता के अनिवार्य अंग हैं और एक-दूसरे से संबद्ध हैं। श्रीअरविन्द ऐसी व्यापक तथा समन्वित जीवन-दृष्टि को ही हमारे सामने रखते हैं। वह न एकांगी बहिर्मुख भाव को ही ठीक बताते हैं और न वैसे अंतर्मुख भाव को उचित ठहराते हैं। इन दोनों उपायों से मानव और जगत् का सम्यक् विकास नहीं हो सकता। सम्यक् विकास के लिए जीवन-दृष्टि को दोनों को, मानव-व्यक्तित्व और जगत् को, अपने यथार्थ संबद्ध रूप में देखना होगा तथा उन्हें एक समग्र सत्ता के अंग अनुभव करना होगा। व्यक्ति तथा जातियां, स्वभाव और विकास की अवस्था के भेद से, एक शैली अथवा दूसरी का अनुसरण कर सकती हैं, परन्तु उनकी जीवन-दृष्टि में समग्र सत्ता का भाव शुरू से ही रहना चाहिए। इससे वे लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होंगी।

परन्तु यह समग्रता पैदा कैसे हो? मानव का सामान्य जीवन तो अत्यंत सीमित है। इसका अपने विषय में तथा प्रकृति के विषय में ज्ञान खण्ड-खण्ड मात्र का होता है। बुद्धि के अनुमानों से फिर वह

उन खण्डों के पारस्परिक विरोधों को दूर करने का यत्न करता है। इसी प्रकार वह समग्र तथ्यों का आनुमानिक ज्ञान प्राप्त करता है, उनका उसे प्रत्यक्ष, पूर्ण तथा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। परन्तु जहां मानव के ज्ञान की सामान्य स्थिति यह है, वहां यह अभीप्सा करता है पूर्ण ज्ञान की, परमानन्द की, अमरत्व की। अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि पृथ्वी का मरणशील प्राणी आकांक्षा करता है स्वर्ग के अमरत्व की ! यह मानव के जीवन का अपूर्व विरोध है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "ज्ञान का जो आधि मंत्र था वही अंतिम भी होगा—परमात्मा, प्रकाश, स्वातंत्र्य और अमरत्व।" परन्तु ये आदिम तथा अंतिम आकांक्षाएं कभी पूरी भी होंगी ? मानव अनेक वार इन महान् आदर्शों से उदासीन होकर प्रत्यक्षवादी तथा जड़वादी हो जाता है, उसके इतिहास के युग-के-युग प्रतिक्रिया में गुजर जाते हैं, परन्तु वह पुनः-पुनः उन्हीं आदर्शों की ओर लौटकर आता है और हर विक्षेप के वाद नये वल और उत्साह से उन्हीं आदर्शों को पकड़ता है। प्रत्यक्ष ही उसकी प्रकृति, उसका आंतरिक स्वभाव, उसकी आत्मा इन आदर्शों के लिए आग्रह करती है, मानो उन्हें तवतक शान्ति नहीं मिलेगी जवतक ये आदर्श चरितार्थ नहीं होंगे।

क्या मानव की यह चेष्टा मृग-मरीचिका-मात्र है ? श्रीअरविन्द स्पष्ट उत्तर देते हैं, नहीं। मानव अपने जीवन-विकास में व्यर्थ के ही चक्कर नहीं काटता रहा। वह सव प्रकार के अनुभवों से—अध्यात्मवाद, जड़वाद, बुद्धिवाद आदि के अनेक सांस्कृतिक परीक्षणों द्वारा—नये-नये अनुभव प्राप्त करता रहा है और हर प्रकार के अनुभव से लाभ उठाता हुआ अपने विकास-मार्ग पर आगे वढ़ता रहा है। परन्तु इस विकास का लक्ष्य तथा ध्येय क्या प्रतीत होता है ? श्रीअरविन्द कहते हैं—जीवन की पूर्णता, अर्थात् ऐसा जीवन, जो व्यक्ति तथा समष्टि दोनों में समग्रतापूर्ण होगा, जो भूमा-गुण-सम्पन्न होगा, जिसमें एकांगीपन नहीं होगा, आंशिकता नहीं होगी।

यदि मानव-जीवन का तात्त्विक अर्थ तथा प्रयोजन इसी ध्येय को चरितार्थ करना है, तव प्रश्न पैदा होता है कि यह ध्येय कव और कैसे चरितार्थ होगा ? वास्तव में 'कव' की वात हमारे उतावले प्राण की मांग है। अधिक आवश्यक वात है इस ध्येय की अनिवार्यता को समझना तथा इसके चरितार्थ करने के उपाय और क्रम को जानना। श्रीअरविन्द व्याख्यापूर्वक वतलाते हैं कि सृष्टि-क्रम में एक विकास दृष्टिगोचर होता है और यह भारत के प्राचीन ऋषियों ने भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया था। अन्न, प्राण और मन—इसके तीन परिचित स्तर हैं। हम देखते हैं कि जड़तत्त्व से वनस्पति पैदा होती है, वनस्पति से पशु उच्चतर सत्ता है, पशु से मनुष्य उच्चतर है। इन सबमें क्रमवद्ध सम्वन्ध है। वास्तव में जड़ में से वनस्पति प्रकट न हो सकती, यदि जड़ में पहले से ही जीवन निहित न होता। पाश्चात्य विकासवाद इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता। और इसी कारण उसके लिए अनेक कष्ट उपस्थित हो जाते हैं। परन्तु भारतीय चिन्तन के अनुसार तो ब्रह्म जगत् का मूल आधार है। वही जगत् में अभिव्यक्त हो रहा है। वह जड़ में, वनस्पति में, पशु में और मनुष्य में प्रकट हो रहा है और इस क्रम में उत्तरोत्तर चेतना का विकास दिखाई देता है। परन्तु मानव की चेतना अभी अत्यन्त अपूर्ण है, वह बहिर्मुख है, स्वल्प है, द्वन्द्वात्मक है, उसे अपना ज्ञान नहीं, अपने पर अधिकार नहीं। यदि विकासक्रम सत्य है, तो इससे बृहत्तर चेतना का प्रकाश होगा, द्वन्द्व और दुविधा-पीड़ित चेतना की जगह द्वन्द्व और दुविधा-रहित चेतना प्रकट होगी, मानव-योनि देव-योनि में परिणत होगी। यह विकास श्रीअरविन्द के अनुसार प्रकृति का प्रयोजन है, जगत् की लीला का गुप्त ध्येय। यह अनिवार्य रूप से पूरा होगा और यह प्रकृति के स्वाभाविक योग द्वारा पूरा हो रहा है। मानव-जाति सहज ही अपनी भेदात्मक मानसिक चेतना से धीरे-धीरे समग्रतापूर्ण, भूमा-गुण-सम्पन्न आत्मिक चेतना की ओर अग्रसर हो रही है।

परन्तु इस प्रकृति योग की सहज गति को अत्यधिक द्रुततर बनाया जा सकता है। मानव अब ऐसे चेतना-स्तर पर पहुंच चुका है कि वह सजगतापूर्वक इस क्रम को, इस क्रम की दिशा को, समझकर यदि स्वयं विकसित होने की अभीप्सा करे, अपने ज्ञान, कर्म और भक्ति की पूरी शक्ति इसमें लगाये, तो वह जाति की भावी संभावनाओं को अत्यन्त शीघ्र अपने अन्दर विकसित कर सकता है, जिससे जाति-मात्र के विकास में अपूर्व सहायता पहुंच सकती है। यह सजग, सचेतन विकास-शैली ही श्रीअरविन्द का पूर्णयोग कहलाती है। मानव इसका अनुशीलन करके अपने जीवन में उत्तरोत्तर समग्रता के भाव को बढ़ा सकता है और अन्त में चेतना के उस शिखर तक पहुंच सकता है, जिसे श्रीअरविन्द 'अतिमानस' कहते हैं।

मानव की पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और अमरत्व की अभीप्सा तबतक सफल नहीं हो सकती जबतक उसकी प्रवृत्ति का अहंकार सर्वथा दूर नहीं हो जाता। अहंकार ही भेद का कारण है। इसीसे अज्ञान, दुःख, मृत्यु आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु अहंकार का आत्यंतिक निवारण प्रकृति का मूलतः रूपान्तर चाहता है। जबतक अहंकार के भेदात्मक नियम पर आधारित हमारी वर्तमान प्रकृति एकत्व-भाव-आधारित प्रकृति में रूपान्तरित नहीं हो जाती तबतक इसके अज्ञान, दुःख आदि दूर नहीं हो सकते। इसके लिए हमारी निम्नतर प्रकृति को उच्चतर प्रकृति में परिवर्तित होना आवश्यक है। श्रीअरविन्द कहते हैं, यह संभावना चाहे आज कितनी भी असंभव-सी दिखाई देती हो, वास्तव में ऐसी है नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् में जैसे ब्राह्मी चेतना के अधिकाधिक अंश अवतरित होते रहे हैं वैसे ही मानव ने विकास किया है और अतिमानसिक चेतना के अवतरण से तो उसके लिए एक नया व्योम-क्षेत्र खुल जायगा, उसके लिए प्रकृति के मौलिक रूपान्तर की संभावना सक्रिय तथ्य बन जायगी। यही संभावना सिद्ध करना उनके योग का ध्येय था और इसे ही अब माताजी आगे चला रही हैं।

इस प्रकार श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि प्रकृति के एक गुह्य परन्तु अनिवार्य तथ्य को प्रकाश में लाती है, वह भगवान् के गुप्त परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आशय को प्रकट करती है। मानव विना जाने भी विकसित हो रहा है, वह एक वृहत्तर चेतना को जन्म दे रहा है, वह ज्ञान, आनन्द और भक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। प्रकृति स्वयं उसके लिए योग कर रही है और अपनी सहज गति से उसे पूर्णता की ओर ले जा रही है। परन्तु प्रकृति के इस अनिवार्य आशय को समझ-कर यदि व्यक्ति इसे अपना सजग सहयोग प्रदान करे, तो उसका अपना तथा जाति का विकास कहीं अधिक तेज गति से आगे बढ़ सकता है। यह सजग विकास की शैली ही श्रीअरविन्द का पूर्णयोग है, जो व्यक्ति की ज्ञान, कर्म और भक्ति की सब शक्तियों को प्रचालित करके प्रकृति का समूल रूपान्तर करना चाहता है। अतिमानस का संभावित अवतरण इस जीवन-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण अंश है। यह अवतरण गुह्य और आध्यात्मिक कर्म है, जिसकी अनिवार्यता हम वुद्धि से भी समझ सकते हैं, परन्तु जिसकी सन्निकट संभावना श्रीअरविन्द अपने योगवल से हमें वतलाते हैं। यह संभावना वर्तमान युग को अपूर्व आशा प्रदान करती है, क्योंकि इससे मानव-जीवन का धरातल ही उच्चतर हो जायगा। जैसे पशु और मानव में धरातल का अन्तर है, वैसे ही मानो अतिमानस के अवतरण से मानव की चेतना में अन्तर आ जायगा, अथवा अन्तर का सूत्रपात हो जायगा और इससे प्रत्यक्ष ही हमारे आज के प्रश्नों का आधार वदल जायगा। आज के भेद-वुद्धि के हमारे प्रश्न और संकट, जो इसके लिए असाध्य वने हुए हैं, नई समग्रतापूर्ण चेतना के लिए अत्यन्त सरल प्रश्न हो सकते हैं। तव मानव के ज्ञान, सुख और वल अपूर्व रूप में परिवर्द्धित हो जायंगे। आज सामाजिक और राजनैतिक जीवन विशेष रूप से विद्वेष से भरा हुआ है। राष्ट्र राष्ट्र और जाति जाति के पारस्परिक सम्वन्धों में सन्देह, आशंका और भय मौजूद है। परन्तु उस समग्रता तथा समन्वयपूर्ण चेतना के लिए मानवीय एकता

प्रत्यक्ष सत्य होगी और तब सहकारिता अधिक स्वाभाविक प्रवृत्ति बनने लगेगी। इस प्रकार श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि व्यष्टि तथा समष्टि में स्वाभाविक एवं अनिवार्य विकासक्रम से सुविधा और विरोध के स्थान पर एकत्व और पारस्परिक सहयोग का दृढ़ आश्वासन दिलाती है।

२ : : श्रीअरविन्द के दर्शन का मौलिक प्रश्न

यह जीवन-दृष्टि, स्पष्ट ही, एक पूरे दर्शन तथा सत्ता-शास्त्र में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है। उसे समझे बिना हम इसे पूरी तरह हृदयंगम नहीं कर सकते और न इसे अच्छी तरह जीवन के विकास के लिए बरत सकते हैं। अतः अब हम साहसपूर्वक श्रीअरविन्द के दर्शन को जानना चाहेंगे, सत्ता और संसार का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहेंगे, जिससे मानव-जीवन के तात्त्विक अर्थ और प्रयोजन को अच्छी तरह समझ सकें।

दार्शनिक अनुभूति और चिंतन किसी दार्शनिक की अत्यन्त मौलिक कृति होती है। यह उसके व्यक्तित्व की अनन्यतापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रत्येक दर्शन को ऐसी अपूर्व कृति के रूप में ही हमें समझने का यत्न करना चाहिए। परन्तु दार्शनिक के व्यक्तित्व के अतिरिक्त उसके दर्शन पर दो अन्य प्रभाव भी लगभग सदा ही काम किया करते हैं। एक समकालीन सांस्कृतिक अवस्था और तत्कालीन प्रश्न तथा समस्याएं और दूसरा उससे पहले का दार्शनिक विचार तथा परम्परा। श्रीअरविन्द के दर्शन में ये तीनों प्रभाव खूब अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। श्रीअरविन्द एक महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व थे। उनके ब्रह्म, जगत् और व्यक्ति-सम्बन्धी आध्यात्मिक अनुभव उनके दर्शन के आधारभूत तथ्य हैं। उनका दर्शन मानव के वर्तमान आधारभूत प्रश्नों का गम्भीर समाधान है, आजकल के विकट संकटों के समन्वय का प्रयास है तथा यह हमारे ऐतिहासिक मायावाद के सिद्धान्त को विशेष रूप में अतिक्रांत करने का यत्न करता है, मायावाद की अपनी यथार्थ सार्थकता दिखला-

कर ब्रह्म और जगत् के एक बृहत्तर समन्वय को प्रतिपादित करता है।

श्रीअरविन्द का दर्शन मूल में अंग्रेजी में लिखा गया है, परन्तु दृष्टि और शैली से सर्वथा भारतीय है तथा प्रत्यक्ष रूप से भी यह अपना सम्बन्ध वेद, उपनिषद्, गीता और तंत्र से मानता है। परन्तु इस प्रकार भारतीय परम्परा से सम्बद्ध होते हुए भी यह वर्तमान समय के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल के पाश्चात्य विकास को विचार में लेता है और वर्तमान सम्पूर्ण मानव-स्थिति का समाधान प्रस्तुत करने का यत्न करता है। वास्तव में दर्शन भी एक विकसनशील विज्ञान है। यह मानव के परिवर्तनशील ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति के नये प्रश्नों पर गम्भीर विचार प्रस्तुत करता है और उनके समाधान ढूंढ़ने का यत्न करता है। अवश्य ही दर्शन का विषय सत्य तथा सत्ता है और ये सनातन वस्तुएं हैं। फिर भी हमारी एतत्सम्बन्धी अनुभूति तो हमारे विकास के अनुसार बदलती रहती है तथा इनकी अभिव्यक्ति भी परिवर्तन और विकास का विषय है। अतः जीवन्त जाति का दार्शनिक चिन्तन और अनुभव नित्य-नया होगा, अवस्था-भेद से अनन्त सत्य का नया रूप होगा।

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की शैलियों में कुछ एक महत्त्वपूर्ण भेद हैं। पाश्चात्य दर्शन प्रधानतः बौद्धिक गवेषणा है, विशेषकर पिछले चारसौ वर्षों में वह उत्तरोत्तर एक सार्वभौम विज्ञान ही बन गया है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन सत्ताविषयक किसी आध्यात्मिक अनुभूति से, मन-बुद्धि को, मन-बुद्धि की ही युक्ति और भाषा में, परिचित कराने का प्रयास है। फिर दर्शन बिना योग के संम्भव नहीं। दार्शनिक को व्यक्तिगत विकास द्वारा सत्य को अनुभव करने का यत्न करना होता है। बुद्धि तीव्र होने से वह युक्ति कर सकेगा, महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल सकेगा, विशाल कल्पनाएं भी कर सकेगा, परन्तु वह उन तथ्यों के मर्म को कल्पनारूप में ही प्रस्तुत कर सकेगा। इन्द्रियों की दासता की अवस्था में बुद्धि भी शुद्ध रूप में कार्य नहीं कर सकती।

इस सत्य को आज पाश्चात्य मनोविश्लेषण अवचेतन मन के ज्ञान के आधार पर, अपने तरीके से, जतला रहा है। भारत में इसीके लिए योग का अभ्यास आवश्यक माना गया था। यहां हर दर्शन की सहगामिनी एक योगशैली रही है।

श्रीअरविन्द का दर्शन इनसब दृष्टियों से पूर्णतया भारतीय है। यह सत्ता के बौद्धिक आनुमानिक ज्ञान से विल्कुल भी संतुष्ट नहीं। यह उसके प्रत्यक्ष और अपूर्ण ज्ञान का आग्रह करता है तथा इसके लिए व्यक्तिगत विकास और योग को अनिवार्य ठहराता है। फिर भी इसका मौलिक प्रश्न, जिससे इसका चिंतन शुरू होता है, भारतीय परम्परा से वहुत स्वतंत्र है। भारतीय दार्शनिक चिंतन सामान्यतया दुःख के अनुभव से तथा इसके उपाय की खोज के रूप में शुरू होता है। श्रीअरविन्द के निकट मानव की मौलिक अभीप्सा एक और रूप में प्रकट होती है। मानव चाहता है पूर्ण ज्ञान, पूर्णानंद तथा अमरत्व; परन्तु उसका वर्तमान जीवन है इन आदर्शों का नितांत निषेध और प्रत्यक्ष खंडन। वस, इस विरोध का समाधान ही उनके दर्शन का विषय है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "सत्ता के सभी प्रश्न सारतः समस्वरता के प्रश्न होते हैं।"[१] मानव की वर्तमान अवस्था तथा मानव के अनिवार्य आदर्शों में—ऐसे आदर्शों में जो उसके इतिहास में अनेक वार मन्द पड़कर पुनः-पुनः नित्य नये वल से प्रकट होते रहे हैं—हमें समन्वय प्रस्तुत करना है, अर्थात् मानव, जो अविद्याग्रस्त है, पूर्ण ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकता है? मानव, जो आज सुख-दुःख से पीड़ित है, शुद्ध आनन्द कैसे उपलब्ध कर सकता है, तथा मानव, जो आज असमर्थ तथा मृत्यु के कठोर नियम का दास है, अमर कैसे वन सकता है? स्पष्ट है कि मानव मानवता को पार करके देवत्व प्राप्त करना चाहता है। वस, श्रीअरविन्द-दर्शन का मौलिक प्रश्न यही वन जाता है—मानव दिव्य जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है? परन्तु

---

१. लैटर्स आफ श्रीअरविंद, भाग १, पृ० ३

मानव-व्यक्ति घनिष्ठ रूप से मानव-जाति से सम्बद्ध है। व्यक्ति के विकास और जाति के विकास में अन्योन्याश्रयता है। व्यक्तियों के विकास से जाति का विकास-स्तर उन्नत होता है और जाति का स्तर ऊंचा होने से व्यक्ति और ऊंचा उठता है। इस प्रकार श्रीअरविन्द के लिए, वास्तव में, "मानव दिव्य जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है?" का रूप हो जाता है, "पृथ्वी पर दिव्य जीवन कैसे प्राप्त किया जा सकता है?" अर्थात् भूलोक देवलोक कैसे बन सकता है? अथवा मानव की प्रकृति, जो इस समय अहंकार-आधारित होने से अन्दर और बाहर मूलतः भेद को ही अनुभव करती है, कैसे एकत्व-दृष्टि-सम्पन्न बनाई जा सकती है? यह मौलिक रूपान्तर उसमें कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

इसी मौलिक प्रश्न को एक और परिभाषा में भी रखा जा सकता है। मानव का विस्तृततम अनुभव दो ध्रुव प्रस्तुत करता है। एक पूर्णतया चेतन आत्म-तत्त्व और दूसरा सर्वथा अचेतन जड़ तत्त्व। यह जड़ और चेतन की असीम खाई कैसे भरी जा सकती है? इनमें समन्वय कैसे साधा जा सकता है? आखिर इस एक ही संसार में ये दोनों मूलतः विरोधी तत्त्व इकट्ठे नहीं रह सकते। यदि ये सर्वथा विरोधी ही होते तो इनका सम्बन्ध, जैसाकि मानव के अस्तित्व में हम देखते हैं, कैसे सम्भव हो पाता है? दूसरे शब्दों में, क्या जड़ चेतन की अभिव्यक्ति हो सकता है? क्या विकास-क्रम में कभी यह पूर्ण चेतन को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सकेगा? यदि हो सकेगा, तो पृथ्वीतल पर दिव्य अथवा भागवत जीवन भी सम्भव हो सकेगा, या मानसिक चेतना की जगह भगवान् की पूर्ण निरपेक्ष चेतना भी प्रकाश में आ सकेगी?

जड़ और चेतन का विरोध सामान्य अनुभव है और लगभग हर दर्शन को ही इस विरोध से जूझना पड़ता है। कोई दर्शन इसे कैसे और किस हद तक सुलझाता है, यह उसकी सफलता का प्रामाणिक मापदण्ड माना जा सकता है। प्रायः सभी दर्शन इन दो में से एक को असत्

कहकर इस विरोध को अति सरलता से दूर कर देते हैं। जड़वाद चेतन तत्त्व को असत् कह देता है, विचार को मस्तिष्क का स्राव वता देता है, जैसे यकृत् का पित्त होता है। दूसरी ओर, मायावादी जगत् को मिथ्या कह देता है, केवल ब्रह्म को ही सत्य वतलाता है। परन्तु श्रीअरविन्द आग्रहपूर्वक कहते हैं कि जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय की चारों अवस्थाओं में जो भी अनुभव मानव को प्राप्त होता है, उसमें से किसीको भी हम मिथ्या नहीं कह सकते। उसका कुछ-न-कुछ तो अस्तित्व है न ? उस अस्तितव की वास्तविक मर्यादा जानने का हमें यत्न करना होगा, न कि उसे मिथ्या कहकर टाल देना। श्रीअरविन्द जड़-तत्त्व के जाग्रत् अनुभव तथा आत्म-तत्त्व के 'तुरीय' अनुभव दोनों को सत्य मानते हैं, जगत् और ब्रह्म दोनों को सत्य वताते हैं, अतः इनका समन्वय उनके लिए वस्तुतः विशेष कठिन प्रश्न बन जाता है। पश्चिम के दार्शनिक इतिहास में भी यही प्रश्न आधारभूत रहा है कि जड़ और चेतन का तथा वहुत्व और एकत्व का समाधान किया जाय तो कैसे ? प्लेटो और अरस्तू से लेकर वर्गसाँ तक अनेक प्रयास हुए हैं और इनमें कई अत्यन्त प्रतिभापूर्ण तथा साहसपूर्ण थे, परन्तु दर्शन के इस आधारभूत प्रश्न का समाधान जिस धैर्य और प्रतिभा से श्रीअरविन्द ने किया है, वैसा पूर्व अथवा पश्चिम में शायद अभी तक नहीं हुआ। इस समाधान का प्रतिपादन ही उनके वृहत् दार्शनिक ग्रंथ 'भागवत जीवन'[1] के लगभग १६०० पृष्ठों का विषय है।

दार्शनिक गवेषणा में प्रश्न को स्पष्ट रूप से उपस्थित करना विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। प्रश्न स्पष्ट होने से उत्तर देने में तथा उसे समझने में अपूर्व सरलता हो जाती है। हमने अपने प्रश्न को प्रस्तुत करने में काफी विस्तृत व्याख्या से काम लिया है, परन्तु इसमें अपने-आप ही हमारे उत्तर की वहुत-कुछ रूपरेखा स्पष्ट हो गई है।

---

१. दि लाइफ डिवाइन

श्रीअरविन्द के लिए सर्वव्यापक सत्ता का स्वरूप किसी भी प्रकार का द्वैत नहीं हो सकता, वह अवश्य ही अद्वैत होगा, परन्तु वह शंकर-वादी अद्वैत नहीं हो सकता, क्योंकि उनके लिए जगत् तो सत्य है, और यदि जगत् सत्य है तो सगुण सत्ता सारी सत्य होगी और उसके साथ मानवीय व्यक्तित्व भी। यह स्थिति अवश्य ही निर्गुण ब्रह्मवाद से बहुत भिन्न है। है तो यह ब्रह्मवाद ही, परन्तु इसमें सगुण सत्ता का पूरा समावेश है। इसे हम सगुण ब्रह्मवाद भी नहीं कह सकते, क्योंकि सगुण सत्ता ब्रह्म में समाविष्ट है, ब्रह्म उस सत्ता में परिसमाप्त नहीं हो जाता। उसका निर्गुण परात्पर स्वरूप भी है। वास्तव में, यह ब्रह्म सम्पूर्ण अन्तिम सत्ता होने के रूप में जरूर ही निरपेक्ष, केवल सत्ता होगा और हर प्रकार की सीमा से मुक्त होगा। हमारे मानवीय विचारों के जितने छोटे-बड़े द्वंद्व हैं, वह उनसे परे होगा। उसमें वे द्वंद्व समन्वय को ही नहीं, बल्कि परस्पर पूरक भाव को भी प्राप्त हो जायंगे। वह ब्रह्म सगुण है और निर्गुण भी, वैयक्तिक है और निर्वैयक्तिक भी, सदा पूर्ण तथा विकसनशील भी, सत् तथा असत् भी। वह हमारी सब द्वैतात्मक धारणाओं का आधार है। वह अवश्य ही उन सबसे परे होना चाहिए। उसमें वे सब द्वैत अनिवार्य रूप से पूरक-भाव को प्राप्त होने चाहिए। संपूर्ण सत्ता का स्वरूप अचिंत्य है, अगम्य है। इस ब्रह्मवाद को सर्वांगीण ब्रह्मवाद कहना ही उचित होगा।

संपूर्ण सत्ता के स्वरूप की धारणा बनाने में दार्शनिक बहुधा सामान्य न्याय और युक्तिशास्त्र के विचारों को, जो कि देशकाल-सीमित पदार्थों की मर्यादा बांधने में उपयुक्त हैं, देशकालातीत परम सत्ता पर भी आरोपित करने लगते हैं। हम कह सकते हैं कि यह कुछ अज्ञात रूप में ही होता है, परन्तु इसका फल दार्शनिक दृष्टि से बड़ा अनिष्टकर होता है। अन्तिम सत्ता या तो बौद्धों का शून्य या शंकराद्वैत का निर्गुण ब्रह्म या किसी अन्य प्रकार की एकांगी वस्तु बन जाती है, और या फिर यह प्रत्यक्ष जगत् सब-कुछ हो जाता है, अन्तिम सत्ता अस्वीकार ही कर

दी जाती है। पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों के इतिहास में इस वृत्ति से जो कठिनाइयां पैदा हुई हैं वे किसीसे छिपी नहीं। परन्तु श्रीअरविन्द की ब्रह्मविषयक धारणा दर्शन के लिए एक अपूर्व वस्तु है।

श्रीअरविन्द का ब्रह्म सत्ता की पराकाष्ठा है। वह नितान्त परम अचित्य और अगम्य है। परन्तु मानव अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को अधिगत करता है। यह सत्ता उसके जीवन का मूर्तिमान् आदर्श तथा आकर्षण है। वह सत् है, वह चित् है, वह आनन्द है। यह पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता उसका ईश्वर है, परमात्मा है। यही सत्ता जगत् की रचयित्री है। मनुष्य के ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिविध गतियों की उसमें परिपूर्णता है। क्रियात्मक रूप में मनुष्य के लिए वही उच्चतम सत्ता है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "वैदान्तिक ऋषि जब सच्चिदानन्द-विषयक इस विचार पर इस निश्चयात्मक अनुभव पर पहुंच चुके कि वह हमारी चेतना के लिए सद्वस्तु की उच्चतम भावात्मक अभिव्यक्ति है तो उसके बाद भी उन्होंने अपनी परिकल्पनाओं में असत् को ला खड़ा किया अथवा अपनी बोधनाओं में वे असत् की ओर बढ़ते गए।"[1] इस असत् और सच्चिदानन्दरूपी सत् के आत्यंतिक विरोधों के समन्वय का क्षेत्र वह ब्रह्म है। परन्तु श्रीअरविन्द कहते हैं, "विश्व के अन्दर इस सद्वस्तु का सर्वोच्च अनुभव यह सिद्ध करता है कि वह न केवल चिन्मय सत्मात्र है, अपितु परम प्रज्ञा और शक्ति तथा स्वयंभू आनन्द भी है, और विश्व के परे वह फिर भी कोई अन्य अज्ञेय सत्ता, कोई आत्यंतिक एवं अनिर्वचनीय सत्ता है।"[2]

सामान्यतया सच्चिदानन्द की धारणा अपने-आपमें अन्तिम दिखाई देगी और उससे परे के असत् के विचार में तथा सत्-असत् के समन्वय-रूप ब्रह्म के विचार में कष्ट अनुभव होगा। परन्तु जब मानव-जिज्ञासा

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ० ५३

२. वही ग्रन्थ, भाग १, पृ० ४६

असीम को असीम भाव में खोजती है, जैसाकि उपनिषदों के ऋषियों ने किया था, तब ये परिणाम अनिवार्य हो जाते हैं। ये मानवीय चिंतन की मांग हैं तथा मानवीय उच्चतम तुरीय अनुभव के प्रत्यक्ष सत्य।

परन्तु मानवीय चेतना के साक्षात् संबंध से सच्चिदानन्द ब्रह्म ही पूर्ण निरपेक्ष सत्ता है। इसकी धारणा को हमें ज़रा और स्पष्ट करना होगा। श्रीअरविन्द कहते हैं, "जब हम अपनी दृष्टि को सीमित तथा क्षणिक स्वार्थों से, उसकी अहंभावमयी व्यस्तता से हटाते हैं और केवल परम सत्य की खोज करनेवाली राग-द्वेष-शून्य तथा कुतूहलपूर्ण दृष्टि के साथ संसार का अवलोकन करते हैं, तो इसके परिणामस्वरूप जो सर्वप्रथम प्राप्ति हमें होती है, वह है अनन्त सत्ता, अनन्त गति, अनन्त क्रिया की एक ऐसी अपार शक्ति का बोध, जो कि असीम देश में, नित्य काल में, अपने-आपको उंडेल रही है।"[१] इस प्रकार हम एक अनन्त शक्ति और गति का अनुभव करते हैं। परन्तु क्या यह शक्ति ही सत्ता है या यह शक्ति किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है ? वास्तव में दोनों विचार ही अनिवार्य दिखाई देते हैं। सत्ता (बीइंग) भी और संभूति (बिकमिंग) भी। एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति, एक ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं—दर्शन का एक महावाक्य है। परन्तु इसके साथ ही विचारने योग्य एक और महावाक्य भी है। वह है सर्वं खल्विदं ब्रह्म—निश्चय ही यह सबकुछ ब्रह्म है। इन दोनों को हम अलग-अलग नहीं ले सकते, इसमें परस्पर-पूरकता का सम्बन्ध है।

इस प्रकार वह शुद्ध सत् ही जगत् में भी अभिव्यक्त हो रहा है। परंतु यह जड़ प्रकृति तो उस सत् का नितान्त खंडन प्रतीत होती है। मनुष्य की मानसिक चेतना भी अज्ञान और दुःख-ताप में ग्रस्त है। प्रश्न पैदा होता है कि यह उस शुद्ध सच्चिदानन्दरूपी ब्रह्म की अभिव्यक्ति कैसे ? पहले तो सामान्य अनुभव के प्रमाण पर यह कहना कठिन है कि जड़

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ० १०८

नितान्त अचेतन है भी या नहीं ? प्राणी और उद्भिज में कहीं बंटवारे की पक्की लकीर खींचना संभव नहीं। डा० जगदीशचन्द्र बोस ने अपनी गवेषणा द्वारा जो सिद्ध किया, उससे पता चलता है कि पेड़-पौधों में ऐसी प्रतिक्रियाएं मौजूद हैं, जो प्राणी के व्यवहार के साथ बड़ी समता रखती हैं। फिर उद्भिज और धातु की क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं ऐसी मिलती-जुलती हैं कि उन्हें निश्चयात्मक रूप से दो श्रेणियों में नहीं बांटा जा सकता। इसी प्रकार धातु और शेष सामान्य जड़ प्रकृति में अन्तर करना कठिन है। इस प्रकार मानव-चेतना, पशु-चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, धातु की प्रतिक्रिया और प्रत्यक्षतः नितान्त जड़ पदार्थ में एक क्रम है, एक अटूट सिलसिला है। जब हम इस शृंखला की अटूट कड़ियों को विचारपूर्वक और धीरज से देखते हैं तो हम अनिवार्यतः अनुभव करते हैं कि सत् के विस्तृत अनुभव में कहीं हमें दो ऐसे पदार्थ नहीं मिलते, जो एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हों। आखिर जड़ प्रकृति तो प्राकृतिक नियमों की मर्यादा को स्वीकार करती है, यानी वह चेतना के संपर्क को ग्रहण करने की शक्ति रखती है। जरूर ही, मूल में वह चैतन्य तत्त्व से सहानुभूति रखती है, शायद उसका परिवर्तित स्वरूप ही है।

परन्तु प्रश्न पैदा होगा कि उस सत् और चित् ब्रह्म के ये नदी-पर्वत, वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि परिवर्तित रूप क्यों बने ? इनका क्या प्रयोजन हो सकता है ? श्रीअरविन्द इस प्रश्न को और तरह से उपस्थित करते हैं, "भला ब्रह्म को—पूर्ण, निरपेक्ष, अनन्त, निरीह, निष्काम ब्रह्म को—अपने अन्दर ये नानारूपमय लोक पैदा करने के लिए चेतना की शक्ति को बाहर फेंकना ही क्यों चाहिए ?"[1] एक ही वाक्य में वह इसका उत्तर दे देते हैं, "यदि गति करने अथवा नित्य निश्चल रहने में, अपने आपको रूपों में प्रकट कर डालने या रूप की गर्भित शक्ति

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ० १३७

को अपने अन्दर धारित रखने में स्वतन्त्र होता हुआ भी ब्रह्म गति तथा रचना की अपनी शक्ति को तृप्त करता है, तो ऐसा केवल एक ही हेतु से हो सकता है—आनन्द के हेतु से।"[1] अतः जगत् का सारा व्यवहार आनन्द के लिए है। इसके अनन्त रूप और गतियां अनन्त प्रकार से आनन्द-वृद्धि के ही साधन हैं। परन्तु यह कहना क्या व्यावहारिक मानव के साथ उपहास करना नहीं? वह तो अनेक प्रकार के दुःख और संकटों से बेहद पीड़ित है। वह भला कैसे यह स्वीकार करे कि ये व्याधि-रोग, दुःख-संकट, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, सब वास्तव में आनन्द की उतरती-चढ़ती लहरें मात्र हैं?

अवश्य ही, विषय को स्वतन्त्र भाव से विचारने के लिए हमें अपनी अहंकारमयी दृष्टि से जरा तटस्थ होकर देखने का यत्न करना होगा। मनुष्य को यह भावना छोड़नी होगी कि संसार का केन्द्र मैं हूं और मेरी क्षणिक इच्छाएं ही इसमें विशेष महत्त्व की हैं। हमें निर्वैयक्तिक रूप से संसार को विचारना होगा। संसार में दुःख से सुख जरूर अधिक है। तभी तो हमें जीवन में रुचि है, उससे मोह है। फिर, क्योंकि दुःख हमें विशेष चुभता और अखरता है, इसका क्या यह कारण नहीं कि दुःख हमारी प्रकृति के लिए असाधारण है, साधारण स्थिति सुख की है। इस सम्बन्ध में यौगिक अनुभव का प्रमाण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि व्यक्ति दुःख को आनन्द में परिवर्तित कर सकता है। सुख-दुःख की अनुभूतियां हमारे उथले मानस-तत्त्व की अभ्यासजन्य प्रतिक्रियाएं हैं। हम गम्भीर स्थिति में स्थित होकर उन्हीं सम्पर्कों में एकरस आनन्द भी अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव दार्शनिक विचार के लिए अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें सब प्रकार के दुःख-ताप का समाधान निहित है।

अच्छा, मान लिया कि मूल में सारा चराचर जगत् आनन्द का

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ० १३७

समुद्र है। परन्तु प्रतीति में इसमें दुःख क्यों है? यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही! श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस प्रश्न को हमें अन्य प्रकार से उपस्थित करना चाहिए, "केवल तथा अत्यन्त सत्-चित्-आनन्द ने अपने अन्दर उस वस्तु को प्रवेश ही कैसे करने दिया, जो आनन्द नहीं, जो इसका निश्चित खण्डन-रूप प्रतीत होती है।"[1]

श्रीअरविन्द का उत्तर है कि सच्चिदानन्द आत्म-विभाजन द्वारा देशकाल-वद्ध जगत् को रचता है। यह आत्म-विभाजन विभिन्नता को और विभिन्नता में पुनः आत्म-एकता को प्राप्त करने के आनन्द के लिए ही हो सकता है। विभक्त अवस्था से पुनः आत्म-प्राप्ति की प्रक्रिया में, जो कि जगत्-विकास का क्रम है, सुख-दुःख एक विशेष अवस्था का धर्म है। अहंकारमय प्राणी वहिर्मुख भाव में वस्तुओं के उथले सम्पर्कों में कभी सुख, कभी दुःख और कभी सामान्य भाव—न सुख, न दुःख—अनुभव करता है। ठीक उन्हीं अवस्थाओं में यदि वह उथले और वहिर्मुख भाव को त्याग दे, अपने गम्भीर भाव में स्थित होकर वस्तुओं के गम्भीर भाव का सम्पर्क प्राप्त करे, तो वह विशुद्ध आनन्द को अनुभव करेगा। अतः सुख और दुःख आत्म-विभाजन और आत्म-विस्मृति की एक अवस्था के सहचारी गुण हैं, जो कि आत्म-प्राप्ति के क्रम में अनिवार्य रूप से अतिक्रांत हो जायंगे।

जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, स्व-प्रकाश है, नाम और रूप में आत्म-चरितार्थता है। इसमें उच्चतम आशय आनन्द की प्रेरणा से आनन्द की उपलब्धि ही हो सकता है। पूर्ण और केवल ब्रह्म के लिए कोई दूसरा आशय संगत नहीं। उपनिषद् (तैत्तिरीय) ने इस तथ्य को अत्यन्त वलपूर्वक व्यक्त किया है—"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्तेन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। अर्थात्—"आनन्द से ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्द से उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्द को ही प्राप्त होते हैं।"

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ०:१४३

श्रीअरविन्द के लिए पूर्ण ब्रह्म के तीन अनिवार्य पक्ष, अंग या स्थितियां हैं। जगत् या विश्व उसका असीम देश-काल में सार्वभौम रूप है। इस सार्वभौम या समष्टि-रूप का व्यष्टि एक अनिवार्य अंग है। ये समष्टि तथा व्यष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, उसके गत्यात्मक भाव के मूर्तिमान रूप हैं। परन्तु वह स्वयं इसमें परिसमाप्त नहीं हो जाता। क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है, उसका सान्त व्यष्टियों के परे, जगत् के परे, परात्पर रूप होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार व्यष्टि, समष्टि और परात्पर तत्त्व—तीनों ब्रह्म की ही स्थितियां हैं और स्थितियां होने के कारण तीनों ही नित्य हैं; व्यक्ति और जगत् भी उसी तरह, जैसे परात्पर ब्रह्म। परन्तु हम उन्हें तीन स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में कल्पित नहीं कर सकते। सत्ता अन्त में अनिवार्य रूप से एक सुसंवद्ध और संगठित तत्त्व होना चाहिए। 'अनेकत्व' उस 'एकत्व' के ही आंतरिक सम्वन्धों का विभेद हो सकता है। अद्वैत दर्शन प्राय: 'एकत्व'-विचार पर इतना मुग्ध हो जाता है कि 'अनेकत्व' को वह मिथ्या कह देता है। अनद्वैत दर्शन 'अनेकत्व'-भाव से ऐसे प्रभावित होते हैं कि वे अन्तिम सत्ता को ही खंडित कर डालते हैं। वास्तव में, हम कह सकते हैं कि दर्शन का मूल उत्तरदायित्व अनेकत्व और एकत्व का समाधान ही है।

श्रीअरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं। अनुभव के किसी भी क्षेत्र को, अनेकत्व को अथवा एकत्व को मिथ्या कह देने के लिए वह तैयार नहीं। वह उनका उचित समाधान करना ही अपने दर्शन का ध्येय अंगीकार करते हैं। पूर्ण सत्ता एक है तथा व्यष्टि, समष्टि और परात्पर भाव उसकी तीन स्थितियां हैं, यह उनके दर्शन का एक आधारभूत विचार है तथा अतिमानसिक स्तर के उच्च आध्यात्मिक अनुभव का तथ्य है।

ब्रह्म के इस विवेचन से व्यक्ति और जगत् को सार्थकता अवश्य प्राप्त होती है। इससे श्रीअरविन्द की मुख्य स्थापना को, कि मानव के लिए जगत् में, पृथ्वीतल पर ही, इहैव, दिव्य जीवन संभव है, हम समझ

सकते हैं। अवश्य ही, जबकि जगत और व्यक्ति गुह्य रूप में ब्रह्म हैं, तो प्रकट रूप में भी वे वही हो सकते हैं; जगत् और मानव, जो आज मानसिक चेतना को व्यक्त कर रहे हैं, वे अतिमानसिक स्थिति की ब्राह्मी चेतना को भी व्यक्त कर सकेंगे।

परन्तु यह प्रश्न पैदा हुए बिना नहीं रहता कि जब सब-कुछ ब्रह्म ही है तो फिर यह अपूर्ण जगत् और अज्ञानी मानव क्यों देखने में आते हैं? पूर्ण ब्रह्म के विचार के साथ इस अपूर्णता और अविद्या की भला कैसे संगति बिठाई जा सकती है? यह प्रश्न मानव के चिंतन को सदा से आन्दोलित करता आया है।

जगत् की सृष्टि का प्रश्न बड़ा जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर ढूंढ़ने के लिए हमें बड़ी सावधानी से काम लेना होगा। पहले तो व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा के भावों को अलग करके विषय को विचारना होगा। दूसरे, मानवमात्र के विस्तृत अनुभव को ध्यान में रखना होगा। जाग्रत् अवस्था के व्यावहारिक जीवन के अनुभवों के अतिरिक्त तुरीयादि अन्य अवस्थाओं के अनुभवों को भी विचारना होगा। तीसरे, हम जगत् के अर्थों की ही खोज कर सकते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि "ब्रह्म ने इसे ऐसा क्यों बनाया, इससे और अच्छा क्यों नहीं बनाया?" ऐसी शंका की जड़ में मानव की प्राणिक इच्छा होती है, जो उसे कभी सन्तुष्ट नहीं होने देती।

जगत् और सृष्टि-क्रम को हम मिथ्या तो कह ही नहीं सकते। फिर ब्रह्म की पूर्णता को विचारते हुए हम जगत् की अपूर्णता को ब्रह्म के आत्म-संकल्प द्वारा आत्म-परिसीमन अथवा आत्म-विभाजन का ही परिणाम मान सकते हैं। जो असीम है उसमें ससीम होने की शक्ति भी माननी होगी। जगत् के विषय में विचार करते हुए हम पहले देख चुके हैं कि जड़, उद्‌भिज, पशु और मनुष्य में एक अनवरत क्रम है, एक विकास है। इस विकास में चेतना की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। परन्तु अचेतन में से चेतन का विकास असंभव है। अतः हमें स्वीकार

करना होगा कि जड़ प्रकृति, जो प्रत्यक्षतः अचेतन है, निहित रूप में जरूर चेतन होगी। यह प्राचीन औपनिषदिक विचार है, जिसको न जानकर पश्चिमी वैज्ञानिक विकासवाद अनेक संकटों में पड़ गया। अब वह निहित चेतना ब्रह्म की आत्म-संकल्प द्वारा अणुओं-परमाणुओं में विभक्त और प्रसुप्त चेतना ही हो सकती है। इस प्रकार एक व्यापक अचेतना अथवा अवचेतना विकासक्रम का आधार है। अणुओं-परमाणुओं की खंडित अचेतना में से ही फिर धीरे-धीरे नया संगठन होना शुरू होता है—उद्भिज बनते हैं, पशु बनते हैं, मनुष्य बनते हैं। मानव-चेतना की स्थिति बड़े महत्त्व की है। इसमें एक विशाल संश्लेषण अथवा एकीकरण दिखलाई देता है, एक व्यक्तित्व की रचना मिलती है। परन्तु यह व्यक्तित्व अहंमय है, यह एक अहं-इतर जगत् से सदा ही संघर्ष करता रहता है, और इसकी यह दुविधामय स्थिति एक उच्चतर, पूर्ण रूप से एकीकृत अवस्था का निश्चित संकेत देती है, जो कि विकासक्रम का भावी मार्ग दिखाई पड़ता है।

ऐसा प्रतीत होता है, मानो विकासक्रम ब्रह्म की ऐक्यपूर्ण चेतना की ओर बढ़ रहा है। यहां हमें दो क्रम दीखते हैं, विकास अथवा विवर्तन के साथ एक पूर्वगामी निवर्तन। निवर्तन द्वारा ब्रह्म जड़ प्रकृति की व्यापक अवचेतना में विभक्त और प्रच्छन्न हो जाता है और फिर विवर्तन द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-गवेषणा के क्रम में आत्मलाभ करता जाता है। इसमें जो नये अनुभव का लाभ है, वही आनन्द की प्रेरणा है। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह शंका संगत न होगी कि जो पूर्ण है, उसे कुछ नया कैसे उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि जो पूर्ण है वह रचनाशीलता में न्यून कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति में जगत् आत्म-प्रच्छन्नता, आत्म-गवेषणा तथा आत्मोपलब्धि का क्षेत्र है और व्यक्ति वह निश्चित बिन्दु है, जहां ये क्रियाएं कार्यान्वित होती हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के उपर्युक्त विचार के सम्बन्ध में मानव-मन फिर भी

शंका करेगा कि पूर्ण ब्रह्म ने जगत् का क्रम इस प्रकार निर्धारित क्यों नहीं किया कि उसमें दुःख-ताप होता ही नहीं, भगवान् की आत्म-अभिव्यक्ति भी हो जाती और प्राणियों को भी कष्ट न होता। इसका उत्तर देना वास्तव में सम्भव नहीं। परन्तु यह ज़रूर कहा जा सकता है कि यदि मानव अपने व्यावहारिक पक्षपातों को छोड़कर, उथली चेतना से हटकर, ज़रा अपने अन्दर गहरी स्थिति से जगत् के सामान्य संपर्कों को अनुभव करके देखे तो वही उसे आनन्दपूर्ण प्रतीत होंगे। एक आवरण-मात्र के पीछे छिपा हुआ उसका जो वास्तविक अस्तित्व है, वह आनन्द-मय है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि दुःख मानव का महान् शिक्षक है, उसके विकास का साधक है। व्यक्तिगत और उथली चेतना के दृष्टिकोण को ज़रा छोड़कर यदि हम जगत् को सार्वभौम सत्ता के रूप में विचारें तो हम काफी सुगमता से यह अनुभव कर पायेंगे कि दुःख गौण गति है। जीवन की प्रधान धारा आनन्द है। आध्यात्मिक अनुभव तो जगत् को शुद्ध लीला बतलाता है। अतः अपूर्णता और अविद्या ब्रह्म में नहीं, वे मानव के अपने मानसिक स्तर की विकास-स्थिति के सापेक्ष धर्म हैं। उस स्तर को अतिक्रान्त कर जाने से वह उन्हें भी पार कर जायगा।

हमारी ब्रह्म की भावना प्रत्यक्ष ही सत्ता के कई स्तर कल्पित करती है। ब्रह्म जबकि पूर्ण होते हुए विकसनशील भी है, तो चरम तत्त्व में न्यूनाधिक का भेद मानना होगा, सत्ता के क्रमिक स्तर स्वीकार करने होंगे। ये स्तर श्रीअरविन्द के अनुसार आठ हैं :

१. जड़	५. अतिमानस
२. प्राण	६. आनन्द
३. मन	७. चित्
४. अंतरात्मा	८. सत्

ये एक से आठ तक सीधे क्रम में विवर्तन के द्योतक हैं तथा आठ से एक तक उलटे क्रम में निवर्तन के। इनके अपने-अपने धर्म को जानना तथा

क्रमिक सम्वन्धों को जानना सम्पूर्ण सत्ता को जानने में कितना सहायक होगा, यह हमें धीरे-धीरे ही पता लगेगा। यहां केवल इतना कहना आवश्यक है कि श्रीअरविन्द के दर्शन में इस विवेचन का विशेष स्थान है और उन्होने इनसव स्तरों का गम्भीर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक निरूपण किया है और इस ब्यौरेवार निरूपण की सहायता से वह कई जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने में अपूर्व रूप में सफल हुए हैं।

विकास-क्रम की वर्तमान सामान्य उच्चतम स्थिति मन है। परन्तु विशेष व्यक्तियों में इसका अतिक्रमण सम्भव हो पाया है। मानव इतिहास में ऐसे व्यक्ति बार-बार मिलते हैं, जिन्होंने अन्तरात्मा तथा इससे उच्चतर चेतना के स्तरों पर निवास किया है। अन्तरात्मा का स्तर मन के स्तर से निश्चित रूप से भिन्न है। जहां मन वहिर्मुख है, उथले रूप में रस, गंध आदि सम्पर्कों का ग्रहण करनेवाला तथा द्वन्द्वपूर्ण प्रतिक्रियावाला है, अन्तरात्मा, इसके विपरीत, अन्तर्मुखी है, वस्तुओं के गम्भीर सम्पर्कों को खोजती है तथा सदा एकरस आनन्द को अनुभव करती है। मन सदा व्यावहारिक रूप में प्रकृति-अभिमुख होता है। अन्तरात्मा स्वभाव से जगत् के आत्म-तत्त्व, भगवान्, को खोजती है। यह वास्तव में भगवान् का ही अंश है—ऐसा अंश जो विकास-प्रवृत्त है, जो मानव को चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर अंदर-ही-अंदर प्रेरित करता है। अन्तरात्मा और आत्मा एक ही अस्तित्व के दो पक्ष हैं, एक गत्यात्मक और दूसरा शुद्ध सत्तात्मक। यह श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक अनुभव की एक विशेष उपलब्धि है। ब्रह्म में भी वह ये दो पक्ष मानते हैं और उनका कहना है कि यह ब्रह्म को केवल सत्तात्मक तत्त्व मानने का ही फल था कि जगत् को मिथ्या कहना पड़ा। ब्रह्म की पूर्णता की यह मांग है कि वह सत्तात्मक होने के साथ-साथ गत्यात्मक भी हो। तभी जगत् उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हो सकता है।

अन्तरात्मा से अतिमानस तक विकास का लंबा मार्ग है, जिसमें कई पड़ाव आते हैं और जिन तक अनेक व्यक्ति पहुंचे हैं। परन्तु अतिमानस

एक विशेष स्थिति है। उसमें मन का समूल रूपान्तर हो जाता है, चेतना पूर्णतया एकीकृत हो जाती है; सत्य को धारण करती है, 'अनेकत्व' को यथार्थ 'एकत्व' में अनुभव करती है; मन, प्राण और शरीर अध्यात्मीकृत होकर अमरत्व अनुभव करते हैं, मर्त्य धर्म को अतिक्रान्त कर जाते हैं। अतिमानसिक स्थिति की कल्पना भी आज कठिन है, परन्तु वैदिक ऋषियों ने इसकी चर्चा की है। वे ऋतचित्, सत्यधारी चेतना, का ज्वलंत वर्णन करते हैं। अतिमानस के स्तर का श्रीअरविन्द-दर्शन में विशेष स्थान है। अतिमानस में ही अविद्या का विद्या में रूपान्तर होता है। इसमें ही विकास के स्तरों का पूर्वार्ध उत्तरार्ध में परिवर्तित हो जाता है। जड़, प्राण, मन और अन्तरात्मा के अर्ध में विकास अविद्या की प्रक्रिया से होता है; अतिमानस, आनन्द, चित् और सत् में विद्या अथवा ज्ञान की प्रक्रिया से। अतिमानस ही वह मार्मिक स्तर है, जो जगदुत्पत्ति का पूरा समाधान करता है, क्योंकि वह शुद्ध ब्रह्म की एकता को और जगत् की अनेकता को एक सामंजस्य में उपस्थित कर देता है।

पश्चिम के विकासवादी भी मानव के मानसिक स्तर को अंतिम मान लेते हैं। परन्तु यदि मन की स्थिति तक विकास दिखाई देता है तो कोई कारण नहीं कि मन से आगे विकास-क्रिया क्यों न चलती रहे। श्रीअरविन्द निश्चयात्मक रूप से कहते हैं कि अतिमानस की अभिव्यक्ति जागतिक विकास का अगला लक्ष्य है, और क्योंकि मानव-स्थिति में सचेतन विकास सम्भव हो जाता है, अतः अब विकास-गति द्रुततर हो जानी सम्भव है। अतिमानस की यह चरितार्थता ही मर्त्यलोक में अमृतत्व की आशा और आश्वासन है, पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की संभावना है। दर्शन की खोज है : व्यक्ति और जगत् के यथार्थ अर्थ और स्वरूप। मानव और जगत् दोनों ही अपने निहित रूप में ब्रह्म हैं, आत्म-सत्ता हैं। विकासक्रम में यही निहित तत्त्व उत्तरोत्तर प्रकाश में आ रहा है। अतः मानव और जगत् में पूर्ण आत्मा का प्रकाश संभव ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। मानव, जो इस विकास का अग्रदूत है, योग की सचेतन

क्रिया से इसे अधिक बलपूर्वक गति दे सकता है। परन्तु मानव की आरोहणात्मक गति की सहचारिणी अवरोहणात्मक एक दूसरी गति सदा ही साथ काम करती रहती है। जहां नीचे के स्तरों की निहित चेतना ऊपर उठने के लिए जोर मारती है, वहां ऊपर के स्तरों की प्रस्फुट चेतना नीचे के स्तरों में आकर प्रकट होने के लिए यत्नशील रहती है। ये दोनों वैश्व प्रयत्न विकास को गति दे रहे हैं तथा वस्तुओं के निहित आत्म-रूप को प्रकट करने में संलग्न हैं।

३ : : भारतीय संस्कृति की मुख्य प्रेरणा

हमारा प्रस्तुत विवेचन श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि, अर्थात् जीवन के तात्त्विक अर्थ तथा प्रयोजन, से आरम्भ हुआ था। हमने तब देखा था कि मानव एक विकासात्मक वैश्व क्रम का अंग है, वास्तव में उसका अग्र-भाग है और प्राकृतिक क्रिया से मानो अपनी वर्तमान मानसिक चेतना को अतिक्रान्त करके वह अन्तरात्मा की आध्यात्मिक चेतना की ओर बढ़ रहा है, मन-बुद्धि के भेदात्मक अनुभव से आत्मा के समग्र अनुभव को विकसित कर रहा है। यह विकास जहां ज्ञान-पक्ष में भी हो रहा है वहां उसके सुख-दुःख के भाव-पक्ष में तथा कर्तृत्व-पक्ष में भी हो रहा है। सुख-दुःख की जगह आनन्द-भाव तथा ऐन्द्रयिक आवेगों और इच्छाओं की जगह सुसंगठित चित्त-शक्ति विकसित हो रही है। परन्तु इस प्राकृतिक विकास को मानव सचेतन यत्न द्वारा अत्यधिक द्रुततर बना सकता है। इससे पृथ्वीतल पर मन से कहीं विशालतर अतिमानसिक चेतना का अवतरण होने में अपूर्व सहायता मिलेगी और इस अवतरण के बाद यह विकास एक नये धरातल पर आ जायगा। यही श्रीअरविन्द की खोज तथा आशापूर्ण जीवन-दृष्टि है।

यह दृष्टि प्रत्यक्ष ही सार्वभौम सत्ता के गंभीरतम तथ्य से सम्बद्ध है। मानव विश्व का अंग है, और क्योंकि विश्व विकसनशील है, इसलिए मानव भी विकसनशील है। फिर शायद विश्व के विकास का आशय

उत्तरोत्तर महत्तर चेतना को चरितार्थ करना है, और क्योंकि मानव वैश्व क्रम का अग्रणी है, अतः वह महत्तर चेतना पहले इसीमें चरितार्थ होनी अनिवार्य है। परन्तु विश्व तो अभिव्यक्ति है, यह अवश्य किसी अव्यक्त विश्वातीत तथ्य को सोचने के लिए हमें वाधित करेगा। इस प्रकार जीवन-दृष्टि से हम सत्ता के स्वरूप पर पहुंचे। हमने तब देखा कि यह सत्ता अपने-आपमें एक पूर्ण एकत्वमय असीम शाश्वत तत्त्व ही हो सकती है, जो कि हमारे सापेक्ष जगत् के सब द्वन्द्वों का समन्वय तथा हमारे विचार और चिंतन के सब संभाव्य पक्ष-विपक्षों का अन्तिम समन्वय होगी। ऐसी सत्ता मानव के लिए प्रत्यक्ष ही अज्ञेय तथा अलक्षणीय होगी। परन्तु जहां चरम विचार के रूप में सत्ता का स्वरूप इससे भिन्न नहीं हो सकता, वहां जगत् और उसके रचयिता के रूप में मानव एक ईश्वर, एक भगवान्, एक सत्-चित्-आनन्द तत्त्व की भावना बनाता है। यह उसे अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध से उच्चतम शिखर प्रतीत होता है और यही उसके जीवन का क्रियात्मक ध्येय और लक्ष्य होता है। यदि हम अज्ञेय और अलक्षणीय सत्ता को पूर्ण ब्रह्म कहें तो सच्चिदानन्द को हम उसका वह रूप या स्वरूप कह सकते हैं, जिसे मानव अपने व्यक्तित्व द्वारा अनुभव कर पाता है। पूर्ण ब्रह्म और सच्चिदानन्द वास्तव में दो परम तत्त्व नहीं हैं। परम तत्त्व एक ही है, ब्रह्म उसका आत्यंतिक संभाव्य रूप है और सच्चिदानन्द उसका मानव के लिए निश्चित अनुभवगोचर रूप। जगत् और व्यक्ति को समझने के लिए प्रत्यक्ष रूप में हमें सच्चिदानन्द ही सहायक है। ये उसकी अभिव्यक्तियां हैं, लीला तथा क्रीड़ाएं हैं, विकास की प्रक्रियाएं हैं। जड़, प्राण और मन के आरोहणात्मक स्तरों में से विकसित होकर मानव-आत्माएं जगत् में प्रच्छन्न भगवान् को पुनः प्राप्त करने का यत्न कर रही हैं। परन्तु मानव-आत्मा अहंकारग्रस्त होकर जगत् के खेल को गंभीर संग्राम का रूप दे देती है और इसके आनन्द के भाव और आशय को सर्वथा खो बैठती है। जब वह अहंकार और मोह की भावनाओं से तटस्थ होकर जगत् को देखती

हैं तो वह इसे लीला, क्रीड़ा तथा आनन्द का कर्म और व्यवहार अनुभव करती है। परन्तु लीला और क्रीड़ा का अर्थ व्यर्थ की चेष्टा नहीं, वल्कि ऐसा कर्म है, जो आयासरहित, स्वाभाविक और आनन्ददायक है, जैसे कि कवि का प्रेरणा के अधीन कविता करना होता है।

सत्ता के स्वरूप, उसके स्तर आदि का प्रकरण अवश्य ही सूक्ष्म दार्शनिक विवेचन बन गया था। यह अनिवार्य भी था, परन्तु अब हम पुनः जीवन-दृष्टि-सम्बन्धी कुछेक प्रसंगों को लेना चाहते हैं। मानवीय व्यक्तित्व, उसका विकास, कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, लोक-लोकान्तर आदि विषय जीवन-दृष्टि से साक्षात् रूप से सम्बद्ध हैं और इनके विषय में श्रीअरविन्द का चिंतन अनेक महत्त्वपूर्ण अंशों में हमारी दार्शनिक परंपरा में नया विकास भी उपस्थित करता है। अब हम बारी-बारी से इनपर विचार करेंगे। पहले हम मानवीय व्यक्तित्व को लेते हैं।

व्यक्तित्व विशेष रूप से आधुनिक शब्द है और इसका अर्थ है विशिष्टतापूर्ण मानव—ऐसा मानव, जिसने सचेतन प्रयत्न और आयास से कोई विलक्षण योग्यता या प्रतिभा विकसित करली है, विशेषकर जिसमें संकल्प और इच्छा का एक अपना स्वरूप बन गया है। बुद्ध, नेपोलियन, अशोक, शंकराचार्य, मीराबाई आदि सब महान् व्यक्तित्व थे। इनमें मानव-जीवन अपनी-अपनी शैली के संगठन को प्राप्त हुआ और उसने अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की। परन्तु एक प्रकार से हरएक मानव, वह कितना भी सामान्य क्यों न हो, कुछ-न-कुछ विशिष्टता लिये होता है। कोई दो मानव सर्वथा एक समान नहीं होते। वास्तव में एक ही पेड़ के कोई-से दो पत्ते भी समान नहीं होते। व्यक्ति-भाव, प्रकृति में जड़ वस्तुओं से ही शुरू हो जाता है। दो रेत के दाने भी शायद समान नहीं होते। उद्भिजों में यह व्यक्ति-भाव एक उच्चतर मर्यादा का हो जाता है, वस्तुओं में एक निजी संगठन का रूप प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगता है। प्राणियों में व्यक्तिभाव का विशिष्टत्व और भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है, उनके स्वभाव और व्यवहार में विशेषताएं मिलने लगती हैं। एक गौ

और दूसरी गौ में मानो स्वभाव के हेरफेर मिलने लगते हैं। मनुष्य मनुष्य में स्वभाव, चरित्र तथा व्यक्तिगत इच्छा और रुचि में विशेषताएं प्रत्यक्ष हैं ही। इस प्रकार हर मानव व्यक्तित्व है, विशिष्टतापूर्ण अस्तित्व है।

यद्यपि प्रकृति में हम व्यक्ति-भाव जड़ वस्तुओं से ही देख सकते हैं, फिर भी व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग हम मानव के लिए ही करते हैं। वास्तव में व्यक्तित्व की मौलिक निर्धारित गति है सचेत रूप में अपने व्यक्ति-भाव को विकसित करने की शक्ति; अथवा, स्वेच्छा से अपने जीवन को संगठित करने की क्षमता। यह मानव में ही है। पशु प्रकृति का दासमात्र है। वह अपनी भूख-प्यास, काम-क्रोध आदि प्राणिक प्रवृत्तियों से प्रचालित होता है। उसका मन अभी इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ कि वह आत्म-सजग हो सके, अपने अन्दर किसी अंश में साक्षि-भाव को प्राप्त कर सके और अपने जीवन को ज्ञानपूर्वक प्रेरित-प्रचालित कर सके।

परन्तु मानव के व्यक्तित्व-विकास में निजी सजगता तथा इच्छा के साथ-साथ वाह्य प्राकृतिक तथा सामाजिक प्रभाव भी काम करते हैं। व्यक्ति अपने कुल का, समाज का; संगति का रंग ग्रहण कर लेता है। उनके भाव, विचार तथा अभ्यास उसमें आ जाते हैं और वह एक सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रतिरूप वन जाता है। परन्तु ऐसा प्रतिरूप होते हुए भी वह चाहे विल्कुल सामान्य शैली का ही व्यक्ति हो, वह होता कुछ विलक्षण प्रतिरूप ही है। पश्चिम का आधुनिक मनोविज्ञान इस विलक्षणता को ही मौलिकता कहता है तथा इसे ही व्यक्तित्व का नाम देता है। परन्तु यदि हम इसे गहराई से देखें तो हमें पता चलेगा कि जिन विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों को व्यक्ति निजी कहता है वह उसने किसी-न-किसी समय अर्धचेतन अथवा अचेतन भाव से अपने सांस्कृतिक वातावरण से प्राप्त किये होते हैं। सामान्य मानव स्वतन्त्र विचार और चिंतन बहुत कम करता है और जब करता है तो सामान्य सामाजिक

विचारों के संगठन में ही कुछ नई उधेड़-बुन करता है। मौलिक रूप में निजी भाव से प्रेरित होकर विचार-चिंतन के क्षण उसके बहुत ही कम होते हैं। इस विवेचन में हमने व्यक्तित्व के परे एक 'निज-भाव' का और संकेत दे दिया है। पाश्चात्य भाषाओं में व्यक्तित्व के लिए 'परसनैलिटी' शब्द बरता जाता है और इसका व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है—'मुख पर पहनने का आवरण'। इस प्रकार परसनैलिटी व्यक्ति का आवरण है, वाह्य रूप है, जैसे वह दूसरों पर प्रकट होता है तथा होना चाहता है। भारतीय अध्यात्म-विद्या के अनुसार हमारा सामान्य व्यक्तित्व शरीर, प्राण और मन का बहिर्मुख संगठनमात्र है, हमारा असली निजी-भाव तो हमारी आत्मा है, वही व्यक्ति की वास्तविक विलक्षणता तथा मौलिकता का निवास-स्थान है।

हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की मुख प्रेरणा 'आत्मानं विद्धि' (अपनी आत्मा को जानो) ही रही है। यहां अपूर्व तन्मयता से जिज्ञासुओं ने अन्तःनिरीक्षण किया है और मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को जानने का यत्न किया है। उपनिषदों के ऋषि हमारे इतिहास में आत्म-जिज्ञासा के विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। उनका कहना है कि मानवीय व्यक्तित्व कुछ-एक कोषों अथवा वृत्तमय रचनाओं का बना हुआ है। व्यक्ति का शरीर उसका स्थूलतम भाग है, यह उसका अन्नमय कोष है। इससे सूक्ष्म है उसका प्राण, जो कि उसका जीवन-तत्त्व है। श्वास-प्रश्वास, खाना-पीना क्रीड़ा-चेष्टा तथा विश्राम, विकास-स्थिति और ह्रास आदि प्राण के ही धर्म-नियम हैं। यह प्राणमय कोष है। इससे और सूक्ष्म और अन्तरीय होता है व्यक्ति का मन, जो वाह्य वस्तुओं के संवेदनों को इंद्रियों द्वारा ग्रहण करता है तथा चिंतन और विचार करता है। यह हुआ मनोमय कोष। ये तीन कोष सामान्य रूप से देखे-पहचाने जा सकते हैं। परन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने गंभीर अन्तःनिरीक्षण द्वारा मन से सूक्ष्मतर तथा अधिक प्रभावशाली दो अन्य क्षेत्रों का भी आविष्कार किया,

विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष, और ये उन्होंने इसके केन्द्रीय तथ्य वतलाये। उन्होंने व्याख्यापूर्वक समझाया है कि जव व्यक्ति गम्भीर तथा चिरकालीन अन्तर्निरीक्षण तथा चिंतन-ध्यान द्वारा अपने शरीर-मन प्राण-मन से तादात्म्य-भाव हटा लेता है तव वह अपने-आपको सामान्य भेदात्मक मानसिक ज्ञान की जगह एक अपूर्व समग्रता तथा समन्वय-पूर्ण ज्ञान और प्रकाश के क्षेत्र में पाता है। अन्तरीय प्रवेश की गति द्वारा जव वह इसे भी अतिक्रान्त कर जाता है तव वह अपने-आपको अपूर्व शुद्धानन्द के क्षेत्र में अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व के ये पांच भाग कहे जा सकते हैं। पहले तीन तो वाह्य परिस्थिति पर क्रिया करने के कारणमात्र हैं। व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथ्य, जो उसके वास्तविक निजभाव का द्योतक है, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष है। सामान्यतया हम अपने शरीर, प्राण, मन को ही अपना पूर्ण व्यक्तित्व अनुभव करते हैं, अपने वास्तविक केन्द्रीय तथ्य से हम अनभिज्ञ ही रहते हैं। परन्तु व्यक्तित्व का रहस्य तो इसीमें निहित है और इसे शिक्षा, अभ्यास और योग द्वारा उपलब्ध करना ही जीवन की परिपूर्णता और सफलता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने भी मानवीय व्यक्तित्व का गहरा अध्ययन किया है, और इसकी कुछ-एक विचारधाराओं का भारतीय मन्तव्य से सुन्दर साम्य है। दृष्टान्त के लिए विलियम जेम्स ने मानवीय 'अहं' के ये प्रधान अंग वताये हैं—भौतिक अहं, सामाजिक अहं और बौद्धिक अहं। पहले में आती हैं हमारे शरीर, मकान, धन-सम्पत्ति आदि भौतिक वस्तुएं, जिन्हें हम अपनी कहते हैं और जिनकी वृद्धि और ह्रास से हम अपने-आपमें वृद्धि और ह्रास अनुभव करते हैं। दूसरे में आते हैं हमारे सव सामाजिक संवंध, जिनकी सफलता में हम आत्म-सम्मान और अहं-वृद्धि अनुभव करते हैं और असफलता में आत्म-ग्लानि और अहं-ह्रास। तीसरे में आते हैं हमारे विचार-विश्वास, भावनाएं और आदर्श। परन्तु ये तीन मिलकर हमारा व्यावहारिक व्यक्तित्व गठित करते हैं। व्यक्ति

में एक पारमार्थिक निगूढ़ सत्तात्मक तथ्य भी है, जो हमारी भौतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक सम्पदाओं का स्वामी तथा ज्ञाता है, जिसे जेम्स 'परात्पर अहं' (ट्रांसेंडेंटल सैल्फ) कहता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के इस अध्ययन में तथा उपनिषदों के कोषों के विचार में, प्रत्यक्ष ही, कुछ साम्य है। परन्तु जहां जेम्स के लिए उसका परात्पर अहं कल्पना का विषय तथा चिंतन की आवश्यकता है, वहां उपनिषत्कारों के लिए विज्ञानमय और आनन्दमय कोष उनके अनुभव के तथ्य हैं, जिन्हें उपलब्ध करने का पूरा-पूरा उपाय भी वे बतलाते हैं।

परन्तु जेम्स से कहीं अधिक गम्भीर सिग्मण्ड फ्रायड का विचार है। सिग्मण्ड फ्रायड पश्चिमी मनोविज्ञान की एक नई विचारधारा का प्रवर्त्तक हुआ है, जो मनोविश्लेषण के नाम से प्रसिद्ध है। मनोविश्लेषण गम्भीर मानसिक विश्लेषण के आधार पर कहता है कि मन के अस्तित्व में उसका जाग्रत भाग एक अंशमात्र है। दस में नौ हिस्सा तो अव-चेतन है, तथा अवचेतन पुराने अनुभवों का केवल गोदाम ही नहीं है, वह जीवन का सक्रिय प्रधान क्षेत्र है, जहां इच्छाएं पलती हैं और चेतन स्तर की इच्छाओं को गुप्त रूप में प्रभावित करती हैं। ये इच्छाएं प्रायः वे होती हैं, जिन्हें हम सामाजिक और नैतिक भय से अवदमित (रिप्रेस) कर देते हैं। ये अवदमित इच्छाएं असावधानी के समय जाग्रति में सामान्य भूल-चूक के रूप में (जैसे मुख से कुछ-न-कुछ निकल जाना) प्रकट हो जाती हैं। स्वप्न में ये अधिक आसानी से प्रकट होती हैं और अपने मनोरथ पूरे कर लेती हैं। लेकिन कई बार तो वहां ये अपने स्वाभाविक रूप में निकलती हैं और कई बार भेस बदलकर, जिससे वे नीति और धर्म के चौकीदार की पकड़ में न आ जायं। इस नीति और धर्म के आंतरिक चौकीदार में, जो हमें सदा कठोर आदेश देता है, और इच्छाओं में निरन्तर संघर्ष चला करता है। यह संघर्ष प्रायः अवचेतन मन में होता है, परन्तु इसका प्रभाव मनुष्य की शांति पर भयंकर पड़ता है। मनुष्य उदासी और दुःख अनुभव करता है, परन्तु कारण ढूंढने पर

नहीं मिलता। वह हर किसीसे लड़ाई मोल ले लेता है और समझता है कि मैं निर्दोष हूं। ऐसी अवस्थाओं में कारण अवचेतन होते हैं, जिन्हें व्यक्ति जानता नहीं और जिनके जाने विना उसकी समस्या का समाधान भी नहीं होता। ये यही अवदमित इच्छाएं उग्र होकर सारे व्यक्तित्व के संतुलन को विगाड़ देती हैं और मनुष्य फिर मानसिक स्वास्थ्य खो वैठता है। फ्रायड मानव की सव इच्छाओं में मौलिक इच्छा 'काम' को मानता है और कहता है कि अन्य इच्छाएं इसीके अनेक रूप हैं। परन्तु इस विचार से अन्य कई मनोवैज्ञानिक असहमत हैं। काम अवश्य ही एक प्रधान प्रवृत्ति है और इसका यथार्थ संयमन-नियमन जीवन-विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इसे मानव की एकमात्र वृत्ति कहना और अन्य इच्छाओं को इसके रूपांतरमात्र वतलाना निस्संदेह अत्युक्ति है।

मनोविश्लेषण का यह सारा अध्ययन अत्यन्त रोचक है और पश्चिम में इसका आज प्रसार भी वहुत हो रहा है। इसके अनुसार व्यक्तित्व के प्रधान क्षेत्र तथा अंग तीन हैं—एक अहं, दूसरा अति-अहं, तीसरा ईड। ईड तो हमारी पाशविक वृत्तियों का समूह है, जो अहंकारमयी हैं, आग्रहशील हैं तथा समन्वयरहित हैं। यही अवचेतन मन का मुख्य विषय है। अति-अहं हमारी समाज-जनित नैतिक और धार्मिक भावनाओं का संगठन है। यह भी वड़ा आग्रहशील है। पाशविक प्रवृत्तियों को यह एकदम रोक देना चाहता है। परिणाम होता है ईड और अति-अहं के वीच निरंतर संघर्ष। इस संघर्ष में से एक नया संगठन तैयार हो जाता है, जो हमारा सामान्य अहं है। व्यक्तित्व के इन तीन अंगों में अपेक्षाकृत संतुलन रहना मानसिक स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। परन्तु क्या इनका आपसी द्वन्द्व कभी सर्वथा दूर भी हो सकता है और क्या मानव पूरी आन्तरिक शांति प्राप्त भी कर सकता है? इसका उत्तर नकारात्मक है। पश्चिमी मनोविज्ञान मानव के लिए पूर्ण आन्तरिक शान्ति असंभव-सी मानता है।

जेम्स में परात्पर अहं के लिए भावना थी, फ्रायड में इसके लिए

कोई स्थान नहीं। फ्रायड का सारा विवेचन प्राणिशास्त्र की शैली के अनुसार प्रकृतिगत क्रमों में कार्य-कारण-सम्बन्ध बिठाने का प्रयत्न है। मानव में इन कर्मों का ज्ञाता कोई 'पुरुष' है—यहां यह प्रश्न ही नहीं उठाया गया। सारा अध्ययन सामान्य अनुभव के क्षेत्र तक सीमित है और सामान्य अनुभव को भी काम की पाशविक वृत्ति पर आधारित बतलाया गया है और उसीसे विकसित करके दिखाने का यत्न किया गया है।

इस सारी शैली के सम्बन्ध में श्रीअरविन्द प्रश्न उठाते हैं कि कमल-पुष्प कीचड़ में से पैदा होता है, परन्तु उसके अस्तित्व का मर्म, उसके सौंदर्य का रहस्य क्या हमें कीच में मिलेगा ? मानव पशु से विकसित हुआ है, परन्तु इस विकास में कोई उद्देश्य और आदर्श भी काम कर रहा है या नहीं ? यदि है तो मानव-विकास में जहां हम पशु-प्रकृति को मानव-प्रकृति का कारण मानेंगे, वहां जो आदर्श-उद्देश्य उसे रूप दे रहे हैं, उन्हें हम अधिक महत्त्वपूर्ण कारण मानेंगे। मानव वास्तव में एक विकास-क्रम का अंग है। इस क्रम में एक लक्ष्य और उद्देश्य है और यह लक्ष्य और उद्देश्य सक्रिय प्रभाव है। इसके विना हम विकास की शैली और क्रम को समझने में कभी सफल नहीं हो सकते। डार्विन के विकासवाद ने विकास को शुद्ध भौतिक कारणों से समझाने का यत्न किया, परन्तु आज यह पश्चिम में भी प्रायः स्वीकार किया जा रहा है कि विकास जरूर सोद्देश्य है; यह केवल भौतिक कारणों से सम्पादित नहीं हो रहा है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में तो यह व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है कि मन सोद्देश्य क्रियाशील अस्तित्व है और इसके सब व्यवहारों में संवेदन, उपलब्धि, चिन्तन, कल्पना, संकल्प आदि में लक्ष्य सदा विद्यमान होता है। परन्तु फिर भी पश्चिमी मनोविज्ञान मानसिक व्यवहार को भौतिक विज्ञानों की तरह पूर्वगामी घटनाओं के बल पर ही समझाने का यत्न करता है; व्यवहार में निहित लक्ष्य को विचार में ही नहीं

लाता। श्रीअरविन्द लक्ष्य को प्राथमिकता देते हैं; पूर्वगामी स्थितियों को प्रधानतया सक्रिय सामग्री के रूप में ही अंगीकार करते हैं। पश्चिमी मनोविज्ञान और श्रीअरविन्द के मनोविज्ञान में यह प्रधान अन्तर है और इससे मानवीय व्यक्तित्व के रूप-स्वरूप में भी दोनों के बीच भारी अन्तर पड़ जाता है।

श्रीअरविन्द के लिए मानवीय व्यक्तित्व केवल चेतन और अवचेतन मन का एक अच्छा अथवा बुरा संगठन नहीं है। उसका अधिक महत्त्व-पूर्ण भाग अतिचेतन (सुपर कांशियेट) है। यदि मानव एक विकसनशील तथ्य है और वह किन्हीं उच्चतर अवस्थाओं की ओर अग्रसर हो रहा है तो अवश्य ही वे उच्चतर अवस्थाएं सम्भावनाओं के रूप में उसकी प्रकृति में आज भी निहित हैं और ये निहित सम्भावनाएं सक्रिय प्रभाव भी माननी होंगी, क्योंकि मानव के विकास में वे उत्तरोतर चरितार्थ होती जा रही हैं। इस प्रकार मानवीय व्यक्तित्व में एक अतिचेतन भाग भी है और क्योंकि यह उसकी उच्चतर भावी अवस्थाओं का द्योतक है, इसलिए महत्त्वपूर्ण भी है। मानव का वह विकासमार्ग, जिसे वह तय कर चुका है, उसके अवचेतन को निर्धारित करेगा। यह हमारे भूत के संस्कारों का संग्रह होगा और हमारे वर्तमान व्यवहारों को निर्धारित करेगा, परन्तु पूर्णतया सीमित नहीं करेगा। यदि ऐसा होता तो उन्नति और विकास सम्भव न होते। उन्नति करने के लिए हमें अपने पुराने संस्कारों को अतिक्रान्त और रूपांतरित करना होता है और यह हम अपने अतिचेतन भाग के बल से ही करते हैं।

हमारा अतिचेतन पूर्णतर समन्वय की दिशा दिखलाता है। वर्त-मान मानवीय व्यक्तित्व द्वन्द्वमय है। हमारी पाशविक प्रवृत्तियां आपा-पंथी ढंग से अपने-अपने लक्ष्य की पूर्ति चाहती हैं, वे अहंकारमयी हैं। परिणामस्वरूप हमारे व्यक्तित्व के सभी अंगों में विरोध है। हमारे चिंतन और कर्म में, कर्म और भावनाओं में तथा अपने-आप इन सबमें विरोध और द्वन्द्व है। परन्तु ये द्वन्द्व एक संगठित और समन्वित जीवन

की सम्भावना उपस्थित करते हैं। पशु अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों द्वारा, जो कि अहंकारमयी हैं, सहज रूप में प्रचालित होता है। परन्तु मानव अपनी उच्चतर चेतना से उन्हें संगठित करने का यत्न करता है और इससे वह उनके अहंकारों से सचेतन हो उठता है, अनेक द्वन्द्वों को अनुभव करने लगता है। प्रत्यक्ष ही, इस क्रम की परिपूर्णता तभी उपलब्ध होगी, जबकि मानव अपनी वृत्तियों को पूर्णतया एकत्वमय व्यक्तित्व में परिणत कर देगा। यही श्रीअरविन्द के योग के रूपान्तर का प्रश्न है। सामान्य अहंकारमय व्यक्तित्व को एकत्वमय आध्यामिक व्यक्तित्व में कैसे रूपान्तरित किया जाय ?

व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि हम अपने व्यक्तित्व को उच्चतर बनाने का उपाय नहीं जानते, तो उसके वैज्ञानिक विश्लेषणमात्र से हमें क्या सन्तोष मिल सकता है। श्रीअरविन्द के सामने सदा यही प्रश्न रहा है। उनकी सारी खोज का विषय था मानव, व्यष्टि तथा समष्टि को कैसे उन्नत किया जाय, उसकी प्रकृति को कैसे बदला जाय, जिससे उसे स्वाभाविक रूप में ज्ञान, आनन्द और शक्ति उपलब्ध हो जायं ? इस अध्ययन और गवेषणा में, जिसका रूप यौगिक था, उन्होंने कई महत्वपूर्ण आविष्कार किये। प्रथम यह कि मानव-प्रकृति में परिवर्तन अतिचेतन को उत्तरोत्तर चरितार्थ करने से उपलब्ध होता है। परन्तु अतिचेतन को चरितार्थ करने का उपाय क्या है ? उनका उत्तर है 'अभीप्सा'। 'अभीप्सा' उन्नत होने, ऊपर उठने, विकसित होने की सच्ची, गम्भीर, सतत अभिलाषा, इच्छा तथा भावना है। यह उनके योग का महामंत्र है, जिसकी शक्ति मनुष्य अनुभव से जान पाता है। दूसरे, श्रीअरविन्द बतलातें हैं कि अतिचेतन एक विस्तृत क्षेत्र है, जिसमें अधिकाधिक शक्तिशाली स्तर अनुभव में आते हैं। प्रथम स्तर को वे अन्तरात्मा कहते हैं। यह हमारी नैतिक अन्तरात्मा से सर्वथा भिन्न है। यह वस्तुतः एक आध्यात्मिक सत्ता है, जिसे हम अपने व्यक्तित्व में अन्दर को प्रवेश करते हुए हृदय में अनुभव करते हैं। यह सामान्य

चेतना से बहुत अधिक सजग, आनन्दमय तथा सशक्त है। यह अपने स्वभाव में एकत्वमय है और व्यक्तित्व के द्वन्द्वों में उत्तरोत्तर एकत्व सम्पादित करने में सफल होती है। यह मानव में दिव्य तत्त्व है। प्राचीन परिभाषा में इसे 'चैत्य पुरुष' कहा गया है। आत्मा और इसमें श्रीअरविन्द अन्तर करते हैं। आत्मा शुद्ध सत्तात्मक वस्तु है, अन्तरात्मा उसीका गत्यात्मक पक्ष है, जो विकास को प्रेरित-प्रचालित करता है तथा स्वयं विकसनशील है। आत्मा की अपेक्षा व्यक्तित्व का यह तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह मानवीय व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सकता है, दिव्य बना सकता है। जिनका आदर्श केवल आत्मानुभव प्राप्त करना है, सामान्य लौकिक जीवन को पूर्णतया रूपान्तरित करना नहीं, वे वेशक आत्मा की शुद्ध सत्ता को अधिगत करना अपना लक्ष्य बना सकते हैं, परन्तु श्रीअरविन्द के दर्शन और योग का लक्ष्य तो भिन्न है।

रूपान्तर के कार्य को चरम सीमा तक पहुंचाने में अन्तरात्मा अपने-आपमें समर्थ नहीं होती। अतिचेतन के उच्चतर स्तर उत्तरोत्तर सक्रिय बनाने होंगे और अन्त में जब अतिमानस सक्रिय बनेगा तभी जीवन का समूल रूपान्तर होगा। तब मानवीय व्यक्तित्व पूर्ण रूप में दिव्य व्यक्तित्व बन जायगा।

श्रीअरविन्द के मानवीय व्यक्तित्व के विवरण में अभी तक हमने विशेष रूप से अतिचेतन की ही चर्चा की है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्तित्व और अन्तरात्मा का भेद भी उपस्थित किया है। यह भेद स्पष्ट जतला देता है कि हमारे सामान्य व्यक्तित्व की मूल गति कामना, इच्छा, तृष्णा अथवा वहिर्मुख विषय की भूख है। तृप्ति, पूर्णता तथा सहज आनन्द का क्षेत्र हमारे अन्दर गुप्त पड़ा हुआ है। वह अन्तरात्मा का क्षेत्र है। उसे अधिगत करके हम सामान्य जीवन की कामना को तृप्ति में परिवर्तित कर सकते हैं।

मनोविश्लेषण ने विशेष रूप से अवचेतन मन का अध्ययन किया है

और एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के तौर पर उसने हमें बतलाया है कि इच्छाओं के अवदमन से मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। परन्तु क्या अवदमन के विना जीवन का निर्वाह हो सकता है? फ्रायड कहते हैं, यह सम्भव नहीं। सभ्य समाज में रहते हुए हमें अपनी इच्छाओं को अवदमित करना ही होता है। उन्होंने क्रियात्मक रूप में यही दिखलाया कि जब अवदमन से मानसिक विकार पैदा हो जायं तब मानसिक स्वास्थ्य पुनः कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य स्वस्थ मानव के मानसिक संगठन को अधिक उन्नत कैसे किया जा सकता है, यह उनका प्रश्न ही नहीं था।

हम कह चुके हैं कि श्रीअरविन्द का ठीक यही प्रश्न था। उन्होंने सामान्य स्वस्थ मानव को अधिक स्वस्थ तथा पूर्णतर बनाने के लिए खोज की। इसमें अस्वस्थ मानव के लिए उपाय स्वतः आ जाते हैं और जो उपाय विशेष महत्त्वपूर्ण है वह यह कि यदि मानव अभीप्सा के क्रम को उचित रूप में प्रयोग करना सीख जाय तो वह विना अवदमन के जीवन-निर्वाह की एक अपूर्व शैली अधिगत कर सकता है।

श्रीअरविन्द के विवरण में अतिचेतना निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु अवचेतन का महत्त्व भी कुछ कम नहीं। अवचेतन की क्रिया से हमें अवचेतना की आपा-पंथी और धांधली में व्यवस्था लानी होती है। इसके लिए अवचेतन के कर्म और व्यवहार का हमें जितना ज्ञान हो, वह सहायक होता है। अतः निष्पक्ष भाव से हमें उत्तरोत्तर अपनी अवचेतना का निरीक्षण करना होगा और उसकी विभिन्न गतियों को समझना होगा।

हमने ऊपर मानवीय व्यक्तित्व में कामनात्मक और अन्तरात्मा अथवा 'बाह्य पुरुष' और 'आंतर पुरुष' का उल्लेख किया है। ये दोनों हमारे आत्म-भाव के दो स्तर हैं। सामान्यतया या जिस व्यक्तित्व में अथवा व्यक्ति के जिस भाव में हम निवास करते हैं, वह बहिर्मुख होता है और वह कामना अर्थात् बाह्य पदार्थों की इच्छा से प्रेरित-परिचालित

होता है। यह व्यक्तित्व भी विकासक्रम में अत्यन्त धीरे-धीरे मानो बहुत परिश्रम से विकसित हो पाया है और यह खूब समृद्ध संगठन है। प्रधान रूप में यह तीन तत्त्वों का वना हुआ है—शरीर, प्राण और मन। ये तीनों वास्तव में वैश्व तत्त्व हैं, परन्तु व्यक्ति में ये वैयक्तिक रूप धारण कर लेते हैं। मेरा शरीर व्यापक जड़ प्रकृति का ही एक खण्ड है, परन्तु इसके प्रति जो मेरी ममता है वह अन्य वस्तुओं के प्रति नहीं है। इसी प्रकार मेरा प्राण, मेरा जीवन-तत्त्व प्राणि-जगत्मात्र के साथ समान धर्म और व्यवहार से संयुक्त है। मेरा प्राण व्यापक प्राण का ही एक अंश है, परन्तु मुझमें यह वैयक्तिक भाव को प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार मेरा मन भी। हम अपने विचारों को विशेष रूप से निजी समझते हैं, परन्तु उस समय हम यह भूल जाते हैं कि मन वस्तुतः एक व्यापक वैश्व तत्त्व है, जो सभी मानवों में प्रकट हो रहा है। प्रकट होने में वह हरएक में एक वैयक्तिक भाव ग्रहण कर लेता है, परन्तु इससे उसका मौलिक धर्म और व्यवहार नहीं वदलता। विचारों के जोड़-तोड़ अलग-अलग हो जाते हैं, परन्तु वे विचार हमें प्राप्त उस व्यापक मन से ही होते हैं। यह तथ्य आज विशेष महत्त्व का है, क्योंकि विचारों के जोड़-तोड़ की नवीनता को ही आज हम मौलिकता माने हुए हैं। विचार तो हमारे सव वाहर से, वैश्य प्रकृति से प्राप्त किये हुए हैं, वे हमारे अपने नहीं। मन अपने-आपमें हमारा वास्तविक निज-भाव नहीं है। हमारा वास्तविक निज-भाव हमारी अन्तरात्मा है, और जव हम वहां से व्यवहार करते हैं, तव हम यथार्थ अर्थों में मौलिक वनते हैं। परन्तु यह सत्य हम अनुभव तव करते हैं जव हम अपने शरीर, प्राण और मन से तादात्म्य-भाव को हटा लेते हैं। तव हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हम स्वयं इनसे भिन्न एक अपूर्व प्रकाश और आनन्द का केन्द्र हैं और ये उसके कारण हैं, परिस्थितियों के साथ व्यवहार करने के साधन हैं।

मानवीय व्यक्तित्व को प्राचीन भारतीय परिभाषा में पिण्ड कहा गया है और पिण्ड को पूरे ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप वताया गया है। वास्तव

में मानवीय व्यक्तित्व, जो कि वैसे साढ़े तीन हाथ के शरीर में आ जाता हैं, अत्यन्त विशाल, विस्तृत और समृद्ध अस्तित्व है। हमारे शरीर, प्राण और मन का एक सूक्ष्म और आन्तर रूप भी है, वही इनके वाह्य और स्थूल रूप का आधार है और वह वैश्व शरीर, प्राण और मन से सीधे सम्वद्ध है। हमारे व्यक्तित्व के इस क्षेत्र को, जो कि आन्तर शरीर, आन्तर प्राण और आन्तर मन का वना हुआ है, श्रीअरविन्द प्रच्छन्न आत्मा अथवा प्रच्छन्न पुरुष का नाम देते हैं। इस पुरुष की शक्ति अत्यन्त विशाल है। यह दूर की वस्तुओं को अनुभव कर सकता है। कई व्यक्ति सहज में ही इस पुरुष को प्राप्त कर लेते हैं और अपने व्यक्तित्व के उस भाग में निवास करते हुए वे अपने में आसाधारण शक्तियां अनुभव करने लगते हैं। टेलीपैथी अर्थात् विना सामान्य भौतिक साधनों के विचारों के आदान-प्रदान का समाधान आज मनोविज्ञान को वहुत चक्कर में डाल रहा है। तथ्य के रूप में अव इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु इसका समाधान सामान्य मन की शक्तियों के आधार पर नहीं होता। लेकिन श्रीअरविन्द स्पष्ट रूप में वतलाते हैं कि आन्तर मन वैश्व मन से सीधा सम्पर्क रखता है, हमारे वाह्य मन की तरह यह अपने-आपको अलग नहीं अनुभव करता। अतः जव हम अनायास ही अथवा अभ्यास और इच्छा से उसे अधिगत करते हैं, तव हम दूर की वस्तुएं अनुभव करने लगते हैं, हम अन्य मनों के विचारों को जानने लगते हैं।

श्रीअरविन्द ने गंभीर अन्तर्निरीक्षण द्वारा मानवीय व्यक्तित्व की अपूर्व खोज की है और इसके एक-एक क्षेत्र के यथार्थ स्थान और वल का पूरा-पूरा वर्णन किया है। अवतक व्यक्तित्व के चार प्रधान क्षेत्र वर्णन में आ चुके हैं: चेतना, अतिचेतना, अवचेतना और गुह्यचेतना (प्रच्छन्न आत्मा का क्षेत्र)। इनमें हम एक और जोड़ सकते हैं, वह है परिचेतना। हरएक व्यक्ति के चारों ओर एक चेतना का परिवेष्टन होता है, जिसके द्वारा वह अपनी परिस्थिति के सम्पर्कों को थोड़ी दूर से ग्रहण कर सकता है; परन्तु साधारणतया हम अपने इस चेतना-भाग से सचेतन

नहीं होते और इसी कारण जबतक वस्तुओं का स्थूल सम्पर्क हमें इन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त नहीं होता तबतक हमें उनका ज्ञान नहीं होता। यह परिचेतन हरएक व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र की, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति अथवा इनका बहिःप्रसारित प्रभाव होता है। यदि हम अपने परिचेतन से सजग हो जायं और अन्य परिचेतनों के विभिन्न गुणों से परिचित हो जायं, तो वस्तुओं और अन्य व्यक्तियों के सम्पर्कों के गुण-दोष को कुछ पहले ही जान लेने में सफल हो सकते हैं, जो जीवन-निर्वाह में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

हमारा सामान्य व्यक्तित्व विशेषकर हमारा चेतन अंश ही है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के इतने थोड़े-से भाग में ही हम अधिकतर रहते हैं। अपने अवचेतन भाग से हम सजग नहीं, परन्तु वह हमारे चेतनांश पर प्रभाव लगातार डालता रहता है और उसे अपने पूर्व अभ्यासों तथा अवदमित इच्छाओं के अन्दर सीमित रखने का यत्न करता है। हमारे अतिचेतन तथा गुह्यचेतन प्रदेश हमें अप्राप्त ही रहते हैं और अपने चेतन-अंश से आग्रहशील तादात्म्य को हटाकर चेतना के क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करना होता है। इसका उपाय है अभीप्सा, चेतन के क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करने का आंतरिक यत्न। इस यत्न में हम अपने व्यक्तित्व के ऊपरी भाग से हटकर विशेष रूप से गहराई में तथा भीतर जाने की कोशिश करते हैं और इस प्रयत्न द्वारा देर-सवेर हम अपनी अन्तरात्मा का स्पर्श प्राप्त करते हैं। यह स्पर्श इतना अपूर्व और आनन्द-दायक होता है कि इसे हम फिर पुनः-पुनः चाहने लगते हैं। इस प्रकार अंतरात्मा चेतना-भाग में उत्तरोत्तर सक्रिय प्रभाव बनने लगती है, इससे सामान्य व्यक्तित्व में एक नया समन्वय साधित होने लगता है, जिसे श्रीअरविन्द आन्तरात्मीकरण कहते हैं। मानव का सामान्य व्यक्तित्व शरीर, प्राण और मन का ही संगठन है। इनमें मन उच्चतम तत्त्व है और सारे संगठन को हम शरीर और प्राण का मानसीकृत समन्वय कह सकते हैं। पशु की सत्ता प्राणीकृत शरीर कही जा सकती है; उसमें मन

अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में है। सृष्टि के विकासक्रम में मानसीकृत मानव की निहित सम्भावनाओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आंतरात्मीकरण उसके विकास की अगली सामान्य अवस्था होगी। उसके वाद श्रीअरविन्द के अनुसार आध्यात्मीकरण की अवस्था आयेगी, और, फिर उसके वाद अतिमानसीकरण की। उससे मानव की प्रकृति का समूल रूपान्तर हो जायगा। अन्तरात्मा, पूर्ण आध्यात्मिक भाव तथा अतिमानसिक स्थिति मानवजाति को विकासक्रम से अधिगत होनी अनिवार्य हैं, यह श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि की अपूर्व तथा अत्यन्त आशाप्रद देन है। ये हमें स्वाभाविक रूप में प्राप्त होंगी, इसके लिए प्रकृति स्वयं योग कर रही है। परन्तु यदि हम प्रकृति के आशय को जानकर उसके साथ सचेतन रूप में सहयोग दें तो हमारे विकास की गति कहीं द्रुततर हो सकती है और इससे जाति का विकास भी द्रुततर गति से चल सकता है।

हम पहले कह चुके हैं कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संवद्ध हैं। व्यक्ति के विकास से समाज उन्नत होता है और समाज का स्तर ऊंचा होने से व्यक्ति अधिक ऊपर उठता है। यहां हम समाज को अपने सामूहिक रूप में देखना चाहते हैं कि यह किन सोपानों से गुज़रता तथा विकसित होता है। समाज के प्रारंभ और इसके प्रारंभिक जीवन की अवस्था के प्रश्न में जाने की हमें आवश्यकता नहीं। हम यहां केवल कुछ-एक महान् सामाजिक आदर्शों और प्रभावों पर विचार करना चाहते हैं, जो सामाजिक जीवन के विकास में सहायता देते हैं। ये आदर्श हैं धर्म, नीति, कला, विज्ञान और अध्यात्म। इनपर थोड़ा-थोड़ा विचार कर लेना यहां मानवीय व्यक्तित्व के प्रसंग के लिए उपयोगी होगा। ये प्रभाव हमपर सदा कार्य करते रहते हैं, इनके यथार्थ रूप से हमें परिचित होना ही चाहिए। यह विवेचन मानव-समाज के विकास की भावी दिशा को भी इंगित कर सकता है।

धर्म मानव-समाज का एक अत्यंत महान् सांस्कृतिक प्रभाव है

और इसने मानव को जीवन के लिए शुरू से ही प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। धर्म के नाम और रूप अनेक हैं और इनमें से एक-एक पूरे-पूरे सांस्कृतिक जीवन को निर्धारित करता है। ये अनेक धर्म अपनी-अपनी पूजा-उपासना की एक शैली तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के अनेक कर्तव्य बतलाते हैं, व्यक्ति और समाज के संपूर्ण जीवन की मर्यादा निर्धारित करने का यत्न करते हैं। इनकी विभिन्नताएं स्पष्ट हैं और ये विभिन्नताएं अपने-अपने जन्म-स्थान की भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थिति से संबंध रखती प्रतीत होती हैं। इस प्रकार धर्मों में वहुत-कुछ सापेक्ष है, परन्तु वह माना प्रायः निरपेक्ष सत्य ही जाता है। परंतु ये विभिन्नताएं अधिकांश में धर्मों के वहिरंगों में होती हैं। यदि हम धर्मों के केन्द्रीय अनुभवों को विचारें—उन अनुभवों को, जिनसे उनका जन्म हुआ है तथा जिन्हें वे चरितार्थ करना चाहते हैं, तो हम उनमें अपूर्व सहानुभूति और साम्य पाते हैं। यह धर्मों का आध्यात्मिक अंश है और यही उनकी प्रेरणा तथा प्राण है। आध्यात्मिक अंश में भी हरएक धर्म में अपनी-अपनी मौलिकता है, एक धर्म भगवान् को जगत् का न्यायकारी सम्राट अनुभव करता है, दूसरा प्रेम और प्रकाश की आदर्श मूर्ति और तीसरा अविचल शान्ति। परंतु इन अनुभवों में प्रत्यक्ष ही सहानुभूति और साम्य है और यदि हम धर्मों के आंतरिक अनुभव को उनका मौलिक सत्य मानें, तो हमारे मन में से उनके भेदों की भावना कम हो जाती है। फिर यदि हम वाह्य रीति-रिवाज और पूजा-उपासना की शैलियों में भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रभावों की सापेक्षता भी देख पायें, तो हम धर्मों के वास्तविक सत्य को और भी स्पष्टतया अनुभव कर पायेंगे। इस विवेचन से यह भी इंगित हो रहा है कि शायद मानव का भावी धर्म शुद्ध आध्यात्मिक धर्म होगा, जिसमें वाह्य व्यवहार, कर्म आदि, व्यक्ति और समाज की रुचि तथा विकासगत आवश्यकता के अनुसार उपयोगी और हितकारी माने जायंगे। तव मानव जिस एकता को अनुभव करेगा, उसकी आज हम कल्पना ही कर सकते हैं। परन्तु

यह अवस्था अधिक शीघ्र आ सकती है, यदि हम धर्मों के वहिरंग और अंतरंग में भेद करना जान जायं तथा वहिरंग की सापेक्षता देख लें। अंतरंग के साररूप और इसकी विविधता और इन विविध रूपों की परस्पर-पूरकता को पहचान लें, धर्मों की समूची सीमाओं को अनुभव कर लें। तब, अवश्य ही, समग्रतापूर्ण आध्यात्मिक धर्म के लिए एक सुन्दर भूमिका तैयार हो जायगी।

कला, नीति और विज्ञान बौद्धिक युग के अपने महान् आदर्श हैं और वर्तमान समय में धर्म की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो रहे हैं। सौंदर्य, कर्त्तव्यपालन और युक्तियुक्तता आज के उच्चतम सांस्कृतिक ध्येय हैं और मानव-हृदय को विशेप रूप में प्रेरित-प्रभावित करते हैं। परन्तु ये आदर्श उस युग की उपज हैं, जिसमें मन-बुद्धि को ही मानवीय व्यक्तित्व का शिरोमणि सत्य माना जाने लगा, आत्मा अस्वीकृत हो गई, अथवा इसके लिए भावना जाती रही। ये तीनों ध्येय, वास्तव में, एक तो एकांगी हैं, मानवीय व्यक्तित्व के किसी एक पक्ष-ज्ञान, भाव या कर्तृत्व से सम्बन्ध रखते हैं; दूसरे ये द्वन्द्वग्रस्त हैं, निरपेक्ष अन्तिम तथ्य को प्रस्तुत नहीं करते। सौंदर्य भला विना सत्य और शिव के कैसे पूर्ण तथ्य हो सकता है? नीति तो समाज-जनित कर्तव्य-अकर्तव्य के जंजाल और दुविधा में फंसी रहती है। कर्तव्य-बुद्धि और वासना का संघर्ष इसके लिए अनन्तकालीन है। पूर्ण सद्भाव और स्वाभाविक शुभ कर्म इसकी कल्पना से वाहर हैं। युक्तियुक्तता और बुद्धि पिछले ३००-४०० सालों से यूरोप में विशेष आदर्श मानी गई है, परन्तु पिछले ३०-४० वर्षों में वहां के मनोविश्लेषण ने ही यह दर्शा दिया है कि बुद्धि सत्य का दावा भले ही कर सकती हो, किन्तु वह गुप्त रूप में वहुधा प्रेरित वासना से होती है और यह सव पक्षों-विपक्षों के लिए युक्ति देने में चतुर है। प्रत्यक्ष ही, ये तीनों आदर्श अपने-आपमें अधूरे हैं। इन्हें हम समन्वित और समग्र रूप में आत्मानुभव में पाते हैं। आत्मानुभव एक-समान स्वयं-सद् सौंदर्य का, स्वाभाविक शुभ कर्म का तथा सत्य का निवास-स्थान

है। ये एकांगी आदर्श मानव-विकास में अपनी-अपनी कुछ सेवा अवश्य कर सकते हैं, परन्तु जब हम केवल इन्हींको अपनी-अपनी पूर्ण अवस्था तक ले जाते हैं, तो हम आत्मा के समग्रतापूर्ण तथा स्वयं-सत् अनुभव में ही आश्रय पाते हैं।

इस प्रकार धर्म, नीति, कला और विज्ञान अपनी-अपनी जगह महान् आदर्श होते हुए भी अपने से परे एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं, जो मानव-समाज को पूर्णतम प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

हम देख चुके हैं कि मानवीय व्यक्तित्व एक विकासशील, अत्यन्त समृद्ध तथ्य है। जन्म के समय भी यह कोरा कागज नहीं होता, जैसा-कि पश्चिम में कुछ विचारकों ने माना है। यह अनेक रुचियों-प्रवृत्तियों आदि को लेकर प्रकट होता है और जीवन में कुछ और विकास साधित करके विलुप्त हो जाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि प्रकृति में व्यक्ति-भाव बहुत धीरे-धीरे विकसित हुआ है और मानव की अन्तरात्मा में वह अपने यथार्थ भाव को प्राप्त करता है। अब यदि व्यक्तिभाव का विकास प्रकृति का एक विशेष आशय है तब मानव का जीवन-काल केवल जन्म और मृत्यु के बीच का छोटा-सा समय नहीं हो सकता। इस जन्म से पहले भी उसके जन्म मानने होंगे और इसके बाद भी अन्य जन्म स्वीकार करने होंगे। पुनर्जन्म मानो व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास का एक साधन है। यदि यह ठीक है तो यह भी मानना होगा कि व्यक्ति-भाव समग्र रूप में उत्तरोत्तर ऊपर को ही उठता जायगा। उद्भिजों से पशुओं में और पशुओं से मनुष्यों में व्यक्ति-भाव अधिक उन्नत है, अतः जो व्यक्तित्व मनुष्य-स्तर पर पहुंच चुका है, वह फिर उद्भिज या पशु नहीं बन सकता। एक मनुष्य मनुष्य-स्तर पर ही विविध अनुभवों की जिज्ञासा से विविध अवस्थाओं में जन्म ले सकता है, परन्तु वह एकदम पुनः पशु-पक्षी या पेड़-पौधा नहीं बन सकता। इसके विपरीत मानने से सृष्टि के विकास के भाव में आपत्ति अनुभव होती है। यदि सृष्टि भग-

वान् की अभिव्यक्ति है, जिसमें पहले वे नई रचना और लीला की खातिर विलीन हो गये थे और जिसमें अव उनकी निहित चेतना अधिकाधिक प्रकाश में आती जा रही है, तो समग्र रूप में मानव सदा उच्चतर ही उठता चला जायगा। अपवाद-रूप में, किसी विशेष वृत्ति के कारण वह भले ही किसी पशुयोनि में चला जाय, परन्तु अपने अस्तित्व के स्वरूप से वह मनुष्य-स्तर पर पहुंच चुका है और विश्व-विकास के क्रम में उसे अव और ऊपर ही उठना है, न कि नीचे जाना है।

श्रीअरविन्द का पुनर्जन्म का यह विचार परम्परागत भारतीय विचार में नया संशोधन उपस्थित करता है और इसलिए विशेष विचारणीय है। यदि जगत् माया नहीं और इसमें कुछ अर्थ है, तो यह भगवान् की रचना और आनन्दवृद्धि का ही विषय हो सकता है। परन्तु हम कह सकते हैं कि भगवान् तो पूर्ण हैं, उनमें नई रचना कैसे हो सकती है ? यहां ज़रा सोचना होगा कि यदि 'पूर्ण' नई रचना नहीं कर सकता तो क्या यह उसकी पूर्णता में कमी न होगी ? इसलिए श्रीअरविन्द कहते हैं कि भगवान् पूर्ण है तथा रचनाशील भी है। यह जगत् उसकी सृष्टि है और इसमें जो चेतना का वर्द्धनशील प्रकाश उद्‌भिज, पशु और मनुष्य में हम देखते हैं, उसका अर्थ आत्मोपलब्धि और आनन्दवृद्धि ही हो सकता है। परन्तु जड़ में उद्‌भिज और उद्‌भिज में पशु और पशु में मनुष्य और मनुष्य में आत्म-प्रकाश का विकास न हो पाता, यदि पहले जड़ में यह सव सामर्थ्य निहित रूप में मौजूद न होता। शुद्ध जड़ में भला आत्म-प्रकाश कैसे संभव हो सकता है ? इसीलिए विकास का पूर्वगामी क्रम निवर्तन है, जिसके द्वारा भगवान् स्वेच्छा से जड़ के गर्भ में आत्म-विस्मृति स्वीकार कर लेते हैं। यही आत्म-विस्मृति आत्मोपलब्धि का आधार वनती है। जगत् और सत्ता के ये आधारभूत विचार हमें खूव स्पष्ट हो जाने चाहिए। इनके विना जीवन, पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धांत-संवंधी मौलिक प्रश्नों को समझना कठिन होगा। हमारे परंपरागत दार्शनिक चिंतन में विकास का भाव पिछले समय में काफी मंद पड़ गया था। हम प्रायः यही

मानते रहे हैं कि जगत्, जैसा यह आज है, ऐसा ही भगवान् ने आदिकाल में बनाया; जो आज योनियां हैं, ये तब पैदा कीं और यह ऐसा-का-ऐसा ही अंतकाल तक चलता रहेगा। परन्तु इस विचार में अनेक दोष हैं। योनियां कई आकर चली गई हैं, आज उनके खंडित पिंजरमात्र ही कभी-कभी मिल जाते हैं। सजीव दर्शन को नये तथ्यों का समाधान कर सकना चाहिए और हमारे मन-बुद्धि को संतोष दे सकना चाहिए। 'विकास' एक निश्चित तथ्य है—व्यक्ति का, समाज का तथा प्रकृति का। सामान्य निरीक्षण से भी मनुष्य इसे अवगत कर लेता है। अब प्रश्न यह है कि इसका समाधान क्यों और कैसे होता है ? पश्चिम में डार्विन ने इसका एक उत्तर दिया है। वह उत्तर पीछे कई प्रकार से संशोधित-परिवर्द्धित हुआ है। पूर्व में श्रीअरविन्द एक दूसरा उत्तर देते हैं। दार्शनिक जिज्ञासावाले इन-पर विचार करके देखें और अपने प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ें। श्रीअरविन्द वैसे अपने विकासवाद को मूल में उपनिषदों पर आधारित बतलाते हैं। अन्न, प्राण और मन का क्रमिक वर्णन वहां बहुत मिलता है तथा हिन्दू धर्म का दस अवतारों का विचार भी एक विकासक्रम का द्योतक है। जो भी हो, यह कहना असत्य है कि विकास का विचार भारतीय दर्शन तथा धर्म में नहीं है। यह जरूर ठीक है कि पिछले एक युग में, जबकि हम स्वयं ही रूढ़िगत अवस्था में रह रहे थे, यह विचार हममें अत्यंत मंद हो गया था। पुनर्जन्म व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास के लिए आवश्यक है, उसके बिना वर्तमान जीवन के ही अनेक तथ्य समझने-समझाने कठिन हो जायंगे। जन्मसिद्ध रुचियां-प्रवृत्तियां कहां से आईं तथा जीवन-भर जो परिश्रम किया, जो विकास साधित किया, उसका आगे क्या होगा ? इन प्रश्नों के और उत्तर भी हैं, परन्तु व्यक्तित्व के अनवरत विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक ही व्यक्ति को अपने पुराने परिश्रम पर आगे परिश्रम करने का अवसर मिले। यह पार्थिव जीवन में पुनर्जन्म द्वारा ही सम्भव हो सकता है। परन्तु यहां प्रश्न पैदा होगा कि पुनर्जन्म निर्धारित कैसे होता है ? कोई अच्छा या बुरा जन्म ग्रहण करता है, सो कैसे ? हमारा

परंपरागत उत्तर है, कर्मों के अनुसार। जो इस जन्म में अच्छे कर्म करता है वह अगले जन्म में सुख पायेगा और जो बुरे कर्म करता है वह दुःख। भगवान् न्यायपूर्वक हमारे कर्मों का फल देता है। यह भारतीय चिंतन और विश्वास का प्रसिद्ध कर्म-सिद्धांत है।

श्रीअरविन्द इसे भी एक अधूरा सत्य मानते हैं। यदि यह कर्म-सिद्धांत ही सब-कुछ है तब तो जीवन एक मशीन-जैसा बन जायगा और भगवान् एक न्यायाधीश मात्र। इसमें विकास, रचना और आनन्दवृद्धि की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। किये के अनुसार फल मिलता रहेगा। रचना का तो आशय ही असंभव हो जायगा। परन्तु जगत् और जीवन का प्रधान आशय तो विकास है, अनुभव-प्राप्ति है, आनंदवृद्धि है, रचना है। अतः पुनर्जन्म पूर्वकर्मों के अनुसार नहीं हो सकता, बल्कि अंतरात्मा की अनुभव की मांग के अनुसार होना चाहिए। एक जीवन की समाप्ति पर, एक प्रकार की अनुभव-उपलब्धि के बाद अंतरात्मा एक विभिन्न प्रकार के अनुभव की जिज्ञासा करती है, नया जन्म इस जिज्ञासा से निर्धारित होना चाहिए। इस प्रकार नये जन्म का कारण हमारी अपनी इच्छा, वासना तथा अंतरात्मा की प्रेरणा होती है। हमारे शरीर, प्राण और मन की मांगें अत्यन्त विभिन्न होती हैं, ये ऊंचे-नीचे सभी प्रकार के अनुभवों को चाहते हैं, इनके शिक्षण और विकास के लिए अन्तरात्मा इन्हें इनकी मांगों के अनुसार नई परिस्थितियां तथा सब प्रकार के अनुभवों का अवसर प्रदान करती है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि पुनर्जन्म हमारी इच्छा के अनुसार होता है, तो फिर सभी सुखी दिखाई देने चाहिए, क्योंकि दुःख तो कोई नहीं चाहता! वास्तव में, जब हम यह प्रश्न उठाते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि प्राण की कामनाएं कैसी विभिन्न होती हैं। हम अपने वर्तमान जीवन के निरीक्षण से कह सकते हैं कि हमारे प्राण-मन वस्तुओं के रूप-रस आदि बाह्य प्रभावों से प्रेरित होकर उनकी इच्छा करने लगते हैं; अन्त में उनसे सुख मिलेगा अथवा दुःख, इसका विचार ही वे नहीं करते। हमारे प्राण-मन तात्कालिक सुख को खोजते हैं और जहां इन्हें

धन, ऐश्वर्य और स्वास्थ्य अभीष्ट हैं वहां ये भूख, निर्धनता और रोग में भी कुतूहल और रस अनुभव करते हैं। ये कुतूहल और रस ही नये अनुभवों के क्षेत्र को निर्धारित करते हैं और मृत्यु के वाद हमारी चेतन अन्तरात्मा, हमारे शरीर, प्राण और मन को निज अनुभव द्वारा विकसित होने के लिए नई-नई परिस्थितियां प्रदान करते हैं। जिन परिस्थितियों को हम अवांछनीय समझते हैं, वे वास्तव में विकास के लिए उपयोगी हो सकती हैं। निर्धनता उन्नति के लिए प्रोत्साहन दे सकती है और अन्तरात्मा इसे मन-प्राण की शिक्षा के लिए भी चुन सकती है।

परन्तु इस चुनाव में पूर्वजन्म के कर्मों का प्रभाव भी काम करता है। एक व्यक्ति इस जीवन में जैसे कर्म करता है, वही उसकी रुचि-प्रवृत्ति को निर्धारित करेंगे। यदि यह रुचि-प्रवृत्ति मृत्यु के समय तथा नया जन्म निर्धारित करने के समय भी उसकी प्रवल भावना रहती है तो अगला जन्म उससे सम्वद्ध क्षेत्र को ही उपस्थित करेगा। इस प्रकार हमारे इस जन्म के कर्म हमारे अगले जन्म को किसी हद तक निर्धारित करते हैं। परन्तु अगला जन्म हमारे एक-एक कर्म का, वनिये की वही के अनुसार, न्यायपूर्वक फल होगा, अच्छे का अच्छा और बुरे का वुरा, यह वात ठीक नहीं। एक और प्रकार से भी हमारे इस जन्म के कर्म हमारे अगले जन्म की स्थिति को निर्धारित करेंगे। मनुष्य कर्म अपनी विकास-स्थिति के अनुसार करता है और सुख-दुःख भी वह उसी स्थिति के अनुसार अनुभव करता है। उससे उच्च स्थिति के सुख-दुःखों के लिए उसमें भावना ही कम होती है। शरीर, प्राण, मन और अन्तरात्मा, इन सवके अपने-अपने सुख-दुःख हैं। यदि एक व्यक्ति प्रधान रूप में प्राण की स्थिति में निवास करता है, उसके कर्म भी प्राण की प्रवृत्तियों से प्रेरित होंगे, उसे प्राण के आवेग-प्रवेग ही प्रिय लगेंगे, चिंतन का सुख तथा आत्मा का आनन्द उसे प्रेरित नहीं करेंगे। ऐसी अवस्था में उसका नया जन्म अपनी पूर्व विकास-स्थिति के अनुसार ही होगा और वहां से वह धीरे-धीरे ही उससे विरक्त होकर तथा उच्चतर स्थिति के लिए अभीप्सा द्वारा ऊपर उठेगा। इस प्रकार भी कर्म अगले जन्म को

निर्धारित करते हैं।

कर्म-सिद्धांत वास्तव में मानव-जीवन के क्षेत्र में कार्य-कारण के नियम को लागू करता है और यह दिखला देता है कि यदि भौतिक प्रकृति में नियम है तो मानव-जीवन भी उच्छृंखल नहीं, यहां भी नियम काम करता है। परन्तु मानव-जीवन में भी यह प्रकृति के क्षेत्र में ही—शरीर, प्राण और मन के व्यवहार में—लागू है; अंतरात्मा इनसे उच्चतर अस्तित्व है और वह स्वतन्त्र कर्मों को कर सकती है। साधारणतया हम कर्म-सिद्धांत को संपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व पर लागू कर देते हैं। परन्तु यह भूल है। अन्तरात्मा अनुमंता है, यह अपनी अनुमति देकर अथवा उसे रोककर पुराने कर्मों के प्रभाव से व्यक्तित्व को मुक्त कर सकती है तथा नये कर्मों को सृष्ट कर सकती है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि सामान्य जीवन साधारणतया मानव के पूर्वकर्मों और उनके संस्कारों से प्रचालित होता है, परन्तु जब वह योगमार्ग में आ जाता है और आत्मानुभव से प्रेरणा प्राप्त करने लगता है तब कर्मों के संस्कार उसके व्यवहार को निर्धारित करने में सफल नहीं हो सकते। तब वह कर्म के चक्कर से बाहर निकल जाता है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र भी, जो कि पूर्वकर्मों के बल पर ही भावी को बतलाता है, यह स्वीकार करता है कि भावी को बदला भी जा सकता है।

पुनर्जन्म का प्रश्न लोक-लोकान्तरों के प्रश्न से भी सम्बद्ध है। क्या यह पृथ्वी ही एकमात्र लोक है अथवा इसके अतिरिक्त कोई और लोक भी है, जहां मानव अपने विकासक्रम में जाकर निवास करता है? प्राचीन धर्मों में स्वर्ग और नरक तथा अन्य लोकों का जिक्र आता है, परन्तु आधुनिक बौद्धिक युग ने उनका खंडन कर उन्हें काल्पनिक बता दिया है। परन्तु सत्ता के जिन स्तरों की हम पहले चर्चा कर चुके हैं वे यदि सत्य हैं, तब जैसे यह पृथ्वी मुख्य रूप में जड़तत्त्व का लोक है, इसी प्रकार प्राण, मन आदि स्तरों के भी अपने-अपने लोक होने चाहिए। इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति अपने बहिर्मुख और स्थूल भाव से तटस्थ होकर

व्यक्तित्व और सत्ता के सूक्ष्मतर तथ्यों को जानने का यत्न करता है तो वह प्राण, मन, अंतरात्मा आदि के अपने-अपने स्वतन्त्र लोकों और उनमें वसनेवाले जीवों का अनुभव प्राप्त करता है। ये लोक परस्पर-सम्बद्ध हैं और इसलिए इन सबका प्रभाव यहां पृथ्वी पर अनुभव किया जा सकता है। मृत आत्माओं के लोक की चर्चा आज पश्चिमी विज्ञान भी करता है। पुराने स्वर्ग और नरक प्राणलोक के विभिन्न क्षेत्र ही प्रतीत होते हैं, जहां या तो अपार इन्द्रिय-सुख हैं या असह्य शारीरिक यातनाएं।

लोक-लोकान्तरों, उनके स्वरूपों तथा उनमें रहने-सहने की अवस्थाओं आदि का प्रश्न अत्यन्त जटिल और कठिन है। परन्तु सत्ता के विभिन्न स्तरों का विचार काफ़ी हद तक आग्रह करता है कि जहां वे स्तर एक-दूसरे में ओत-प्रोत होकर जागतिक अभिव्यक्ति को प्रेरित और प्रभावित करें वहां उनके अपने-अपने शुद्ध लोक भी होने चाहिए। इससे उन लोकों के अपने-अपने अनुभव विशेष रूप से प्राप्त हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व में जहां पृथ्वीतत्त्व आधार है वहां इसमें प्राण, मन और अंतरात्मा भी हैं, मानो कोई व्यक्ति विशेष रूप में प्राण के जीवन का अनुभव प्राप्त करना चाहता है, तो उसके लिए प्राणलोक का आकर्षण होगा। प्राण के आवेगों-प्रवेगों से विरक्त हुए विना व्यक्ति आत्मा का जिज्ञासु नहीं वनता। इसी तरह मन के अपने आकर्षण हैं और आत्म-जिज्ञासु को उन्हें भी अतिक्रांत करना होता है।

मृत्यु के वाद अंतरात्मा अपने सूक्ष्म शरीर-सहित, जो कि शरीर, प्राण और मन के सूक्ष्म तत्त्वों का वना होता है, कुछ समय के लिए अंतरात्मा के लोक में विश्राम करती है। यहां वह विगत जीवन के अनुभवों को पचाती और नये व्यक्तित्व की रूपरेखा निर्धारित करती है। इस वीच में वह विशेष आकर्षण के कारण प्राणलोक में भी जा सकती है। कम-से-कम मृत्यु के वाद उसे प्राणलोक में से गुजरना जरूर होता है; और, यदि उसकी प्राणिक तृष्णाएं प्रवल हैं तो वह समय उसके लिए काफी भय और संकट का होता है। पुनर्जन्म के विस्तारपूर्ण वर्णन के लिए इन

लोकों का विवरण काफी विशद होना चाहिए। परन्तु हमने यहां इस विषय का उल्लेख मात्र ही किया है।

४ : : ज्ञान, ज्ञान के कारण, पूर्ण ज्ञान

पिछले कुछ प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि मानवीय व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथ्य उसकी अंतरात्मा है और जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा में यह आध्यात्मिक तत्त्व ही विकसित होता जा रहा है। विकास का क्रम भी यह दर्शाता प्रतीत होता है कि मानव एक समय प्रत्यक्ष रूप में, जैसाकि निहित रूप में वह आज भी है, अन्तरात्मा की आध्यात्मिक चेतना में निवास करेगा तथा वहीं से वह अपना सारा कार्य-व्यवहार करेगा। परन्तु अन्तरात्मा की उपलब्धि पृथ्वी-तल पर दिव्य जीवन की संभावना को चरितार्थ नहीं कर देगी, क्योंकि जबतक मन, प्राण और शरीर का समूल रूपांतर न हो जाय, इनका प्रकृतिगत अहंकार सर्वथा दूर न हो जाय, तबतक मानव अपने सारे व्यवहार में तथा जीवन के सब संपर्कों में भगवान् की मूल सत्ता और उपस्थिति को अनुभव नहीं कर सकेगा। उसके शरीर, प्राण और मन के गुप्त अहंकार उसे भागवत उपस्थिति से पृथक् कर देंगे और जितनी देर वे कार्य करेंगे, उतनी देर के लिए वह खण्डित चेतना में आ जायगा। श्रीअरविन्द अपने योगानुभव से बतलाते हैं कि यह समूल रूपान्तर अन्तरात्मा से कहीं उच्चतर अन्य आध्यात्मिक तथ्य, अतिमानस, द्वारा साधित हो सकेगा। मानवीय व्यक्तित्व जब अन्तरात्मा के बाद विकसित होता हुआ अतिमानस को अधिगत कर लेगा तभी वह पूर्ण-तया रूपांतरित होकर सामान्य रूप में भागवत उपस्थिति के ज्ञान में रहे-सहेगा। तभी पृथ्वीतल पर दिव्य जीवन की संभावना पूरी होगी तथा जड़-तत्त्व और आत्म-तत्त्व का समन्वय सिद्ध होगा। हमारा वर्तमान जीवन, जो केवल वस्तुओं के बाह्य रूप को जानता है और भगवान् के बारे में अनुमान मात्र लगाता है तथा समाधि के सीमित समय के लिए उसका अनुभव प्राप्त करता है, तब सामान्य रूप में भागवत सत्ता के अटल

सत्य को प्रत्यक्ष रूप में अनुभव करेगा और उसके ज्ञान से अपने जीवन को प्रचालित करेगा। मानव-जीवन की अधिकतम परिपूर्णता यही है, वर्तमान जीवन की सव समस्याएं अन्त में यही समाधान मांगती हैं और इसे ही प्रस्तुत करना दर्शन और योग का विषय है।

परन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की दशा तो अत्यन्त सीमित है। हम अपने व्यक्तित्व के छोटे-से जाग्रत् भाग को ही जानते हैं। इसके विभिन्न क्षेत्रों—अतिचेतन, अवचेतन, गुह्यचेतन आदि—को तो जानते ही नहीं। अन्य मनुष्यों को भी हम उनके वाह्य व्यवहार से अनुमान लगाकर जानने का यत्न करते हैं, घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र के भी भावों को साक्षात् रूप में हम नहीं जान सकते, हममें और उसमें एक पृथकता की दीवार खड़ी रहती है। अन्य वस्तुओं को हम उनके रूप-रस-गंध आदि वाह्य गुणों से ही जानते हैं, उनका वास्तविक वस्तु-तत्त्व हम साक्षात् रूप से नहीं जान पाते। ऐसी दशा में भागवत सत्ता का व्यापक, निहित तत्त्व हम कैसे जान सकते हैं? जवतक हमारा ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत न हो, हमें ज्ञान के और कारण ही प्राप्त न हों, तवतक वास्तविक सत्ता को हम कैसे जान सकते हैं? मानव-जीवन की परिपूर्णता कैसे सिद्ध हो सकती है? इसकी मौलिक मांग कैसे पूरी हो सकती है?

ज्ञान का स्वरूप, इसके कारण तथा विकास आदि दर्शनशास्त्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं और इन्हें यहां विचारना आवश्यक है। ज्ञान कई श्रेणियों का होता है। वाह्य स्थूल पदार्थों के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक-दूसरे से विल्कुल अलग होते हैं और ज्ञाता ज्ञेय को इंद्रियों द्वारा जानता है, अपनी चेतना के साक्षात् संपर्क से नहीं जानता। इसके विपरीत अपने अस्तित्व के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं। यह एकात्मता-सिद्ध ज्ञान है और जितना निश्चयात्मक यह है इतना हमारा और कोई ज्ञान नहीं। इस संवंध में पश्चिम के दार्शनिक रेने देकार्त का अनुभव अत्यन्त रोचक है। उसने एक तीव्र दुविधा और संदेह की अवस्था में संकल्प किया कि मैं उनसव वस्तुओं को असत्य मानूंगा, जिनका सत्य

मानना अनिवार्य न हो। मन के सब विश्वासों और विचारों को एक-एक करके उसने असत्य कह दिया। परन्तु वह सोचने लगा कि यह असत्य कहनेवाला जो मैं हूं, यह असत्य कैसे हो सकता है ? अतः 'मैं' जरूर हूं। एक दूसरी शैली से उसने यह प्रदर्शित किया कि हमारा अपने अस्तित्व के बारे में जो ज्ञान है वह बाकी सब प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है और वह सबसे अधिक निश्चयात्मक है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "हमारे तलवर्ती मन को संसार-भर में अन्य किसी वस्तु का ऐसा ज्ञान नहीं है।"[1]

ज्ञान की इन दो श्रेणियों के बीच हमारा 'अपने विचारों का' ज्ञान है। हम अपने विचारों को साक्षात् रूप से जानते हैं, उनसे हमारा प्रत्यक्ष संपर्क होता है, परन्तु हैं वे अज्ञेय रूप में ज्ञाता से भिन्न वस्तु। प्रायः विचार करते हुए हम उनसे एकात्मभाव हो जाते हैं और इस प्रकार उन्हें अन्तर्दृष्टि से जानते हैं। परन्तु हम उनसे एकात्मभाव रखते हुए ज्ञाता-रूप में अपने-आपको अलग भी अनुभव कर सकते हैं। ये दोनों प्रकार के ज्ञान पहली दोनों श्रेणियों से भिन्न हैं और उनके मध्य के प्रभेद हैं।

इस विवेचन से यह काफी साफ हो जाता है कि जो ज्ञान ज्ञेय से एकात्मता द्वारा प्राप्त किया जाता है वह अन्य प्रकार के ज्ञानों से अधिक निश्चयात्मक होता है। श्रीअरविन्द का कहना है कि अन्त में सब ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय की एकात्मता से ही प्राप्त होता है। पूर्ण ब्रह्म के लिए सारा ज्ञान उसका प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञान है, उसके लिए कुछ अन्य है ही नहीं। मनुष्य भी अहंकार के कारण जगत् से अपने-आपको भिन्न अनुभव करने लगता है और इसी कारण उसे इन्द्रियों और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियां और बुद्धि अहंकारजनित विभेद को पूरा करने के उपाय हैं। परन्तु ये उपाय अधूरे हैं, क्योंकि इन्द्रियां वस्तुओं के बाह्य रूपों को खंड-खंड में ग्रहण करती हैं और बुद्धि, युक्ति और कल्पना से, उस ज्ञान की कमी पूरी करने और उसे संगठित करने का यत्न करती है।

---

१. दि लाइफ डिवाइन, भाग २ (१), पृ० ३५०

वैसे वह वाह्य वस्तुओं का ज्ञान भी एकात्मकता पर निर्भर करता है। वाह्य वस्तुएं हमारी इंद्रियों द्वारा स्नायु-तंतुओं में गति पैंदा करती हैं। यह गति मस्तिष्क में रूप-रस-गंधादि के संवेदन पैंदा करती है और इन संवेदनों में फिर ज्ञाता वाह्य वस्तुओं का ज्ञान संगठित करता है। ज्ञाता और मानसिक संवेदनों में साक्षात् सम्बन्ध और आंशिक एकात्मकता होती है। परन्तु संवेदन वाह्य वस्तुओं के संकेत अथवा आंशिक प्रतिरूप ही होते हैं। इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान को पूरा करने के लिए बुद्धि की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। हम एक वस्तु का एक गुण अनुभव करते हैं, शेष की कल्पना कर उसका स्वरूप गठित करते हैं। वर्फ सफेद होती है, हम सफेद वस्तु को देखकर उसे वर्फ मान लेते हैं और उससे ठण्डे स्पर्श की आशा करने लगते हैं। इस प्रकार वाह्य जगत् के इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान में सदा भूल की संभावना वनी रहती है।

परन्तु वुद्धि का कर्म दो प्रकार का है, एक मिश्रित और एक शुद्ध। मिश्रित में यह इन्द्रियों पर आश्रित होती है और शुद्ध में स्वतन्त्र। ज्ञान का वास्तविक रूप जानने के लिए इसका शुद्ध रूप विशेष महत्त्वपूर्ण है। टेलीपैंथी तथ्य के रूप में आज स्वीकृत हो चुकी है। इसमें एक मन दूसरे मन की वात को विना इन्द्रिय के माध्यम के जान लेता है। यदि दिल्ली में वैठा हुआ राम लंदन में बैठे हुए श्याम के मन के साथ साक्षात् संवंध स्थापित कर सकता है और उसके विचार को जान सकता है, तो निश्चय ही हमारे ज्ञान को इन्द्रिय के स्थूल क्षेत्र तथा मन-बुद्धि के अनुमानों और कल्पनाओं की संदेहपूर्ण रचनाओं तक सीमित करने की आवश्यकता नहीं। हम बुद्धि के शुद्ध रूप द्वारा दूरस्थ वस्तुओं तथा मनों का साक्षात् ज्ञान भी उपलब्ध कर सकते हैं। यह सामर्थ्य जरूर असामान्य है; परन्तु यहां हमारा प्रश्न ज्ञान के वास्तविक रूप को जानना है और जवकि बुद्धि अपने शुद्ध रूप में इन्द्रियों के माध्यम के विना भी ज्ञान उपलब्ध कर सकती है, कोई कारण नहीं कि हम अपना ज्ञान इन्द्रियों के स्थूल विषयों तक सीमित मानें, जैसाकि आधुनिक विज्ञान साधारणतया करता है।

इसके विपरीत, शायद इन्द्रियों और बुद्धि का मिश्रित कर्म हमारे वर्तमान जीवन का एक अभ्यास-मात्र है। विकासक्रम में हमारे अहंकार-मय जीवन ने अपने पार्थक्य के उपाय के रूप में ये साधन पैदा किये हैं। यह संभावना हम टेलीपैथी, हिप्नासिस आदि अवस्थाओं में एक हद तक सिद्ध होते देखते हैं। हिप्नासिस में व्यक्ति को किंचित् मूच्छित कर दिया जाता है। वास्तव में उसका सामान्य वहिर्मुख जाग्रत् व्यक्तित्व प्रसुप्त कर दिया जाता है और तब उसकी गुह्यचेतना कार्य करने लगती है और साक्षात् चेतना के कर्म से--विना इन्द्रियों के प्रयोग के—पदार्थों को जानने लगती है तथा अन्य कई प्रकार के कर्म करने लगती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियां वस्तुओं के रूप-रस आदि ग्रहण करने के लिए भी अनिवार्य साधन नहीं हैं।

योगविद्या का प्रमाण इससे भी अधिक सबल है। योग के अभ्यास में जब व्यक्ति अपने बहिर्मुख व्यक्तित्व के कठोर आग्रह को त्यागकर अपने अन्दर प्रवेश करने का यत्न करता है तो वह व्यक्तित्व के उन क्षेत्रों को उप-लब्ध करता है, जिनका ज्ञान-सामर्थ्य कहीं अधिक होता है। वह गुह्यचेतना द्वारा प्रकृति में विश्वव्यापी कर्म और व्यवहार के साथ एकात्मता अनुभव करने लगता है और चेतना की सहज क्रिया के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त करता है। अंतरात्मा की स्थिति के लिए एकात्मता और अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञान प्राप्त करना स्वाभाविक हो जाता है, जिससे मनुष्य प्रकृति तथा परात्पर सत्ता के तथ्यों को साक्षात् जानने में समर्थ हो जाता है। अति-मानस की अवस्था में यह सामर्थ्य व्यक्तित्व में इस हद तक विकसित हो जाता है कि हमारे सामान्य मन, बुद्धि और इन्द्रियां भी रूपांतरित होकर अन्तर्दृष्टि के साधन बन जाते हैं। तब हम सामान्य इन्द्रिय-बोध में भी केवल रूप-रस आदि ही ग्रहण नहीं करते, बल्कि उनके साथ वस्तुओं के आंतरिक तथ्य को भी साक्षात् ग्रहण करने लगते हैं। तब सारा ज्ञान पूर्णतया निश्चयात्मक हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान का वास्तविक रूप वैसा नहीं है जैसाकि हम इन्द्रिय-

जन्य ज्ञान में या सामान्य बुद्धि के कर्म में देखते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता में जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञान का वास्तविक रूप नहीं। वास्तव में जिस रूप में हम अपने अस्तित्व का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वही ज्ञान का वास्तविक रूप है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय की पूर्ण एकात्मता होती है और यह आत्मज्ञान का रूप होता है। वास्तव में यही ब्रह्म के ज्ञान का रूप हो सकता है। उसके लिए उससे बाहर अन्य कुछ है ही नहीं। उसके लिए सारा विश्व आत्मसत्ता है और ज्ञान आत्मज्ञान। मनुष्य भी योगसाधना द्वारा उत्तरोत्तर, बहिर्मुख व्यक्तित्व की सीमाओं को अतिक्रांत करता हुआ, सब वस्तुओं और विषयों को एकात्मता द्वारा जानने की सामर्थ्य पैदा कर सकता है और यह सामर्थ्य विकसित होते-होते जब वह अतिमानस तक पहुंच जायगा तब उसे ब्रह्म-ज्ञान के साथ सर्वांगीण एकात्मता प्राप्त हो जायगी, वह उसमें निवास करने लगेगा और वह अवस्था, वास्तव में, पृथ्वी पर दिव्य जीवन की परम अवस्था होगी।

ब्रह्म पूर्ण है, उसका ज्ञान पूर्ण है, फिर संसार में यह अज्ञान क्यों? यह अविद्या क्यों? यह दुःख-ताप क्यों?

संसार में अज्ञान, अविद्या और दुःख-ताप प्रत्यक्ष हैं। इनसे इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्तिम सत्ता भी जरूर ही एक असीम चेतन तत्त्व होनी चाहिए, यह भी अनिवार्य है। यह असीम चेतन तत्त्व सत्ता और ज्ञान में पूर्ण होना चाहिए और यदि वह ऐसा ही है तो फिर उसके रचे संसार में अज्ञान और दुःख क्यों हैं? यह प्रश्न सभी आध्यात्मिक और आदर्शवादी दर्शनों के लिए पैदा होता है और इसका समाधान उनके सफल समाधान की कसौटी है।

शंकर के अद्वैतवाद ने इस प्रश्न का हल 'माया' के विचार से किया। आध्यात्मिक अनुभव में हम एकत्वपूर्ण शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, परन्तु सामान्य जाग्रत अवस्था में नानात्वपूर्ण जगत् को। तुरीय और जाग्रत के इन दो विरोधी अनुभवों में समन्वय बिठाया जाय तो कैसे? शंकरा-

चार्य ने कहा कि इनमें समन्वय नहीं, अतः दोनों सत्य नहीं हो सकते, एक जरूर मिथ्या है और वह जाग्रत् का अनुभव ही हो सकता है, क्योंकि तुरीय का अनुभव अधिक प्रामाणिक है। जगत् मिथ्या है, परन्तु फिर भी वह प्रतीति में तो है, इसका कारण क्या? इसका कारण 'माया' है। अब प्रश्न पैदा होता है कि 'माया' क्या है? क्या माया ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भिन्न तत्त्व है अथवा ब्रह्म का ही एक गुण तथा क्रिया है? ना, माया न यह है, न वह। फिर क्या है? यह तो एक 'अनिर्वचनीय' तत्त्व है। इसे हम न 'है' और न 'नहीं है' ही कह सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जगत्, जीवन, जन्म, मृत्यु, दुःख-ताप, धर्म, अर्थ, काम, ब्रह्म की जिज्ञासा और मुक्ति, जो कुछ भी जीव जगत् में करता-धरता है तथा चाहता है, सब मिथ्या हो जाता है। एक अन्य शैली से शंकराचार्य ने इनकी रक्षा करने की कोशिश की है। वे सत्ता के दो प्रकार कर देते हैं, एक पारमार्थिक और एक व्यावहारिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है और जगत् व्यावहारिक, परन्तु यह व्यावहारिक सत्ता ब्रह्म की दृष्टि से तथा ब्रह्म में सर्वथा मिथ्या है। इस प्रकार शंकराद्वैत के अनुसार अविद्या तथा दुःख-ताप मिथ्या हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि श्रीअरविन्द जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय के किसी भी अनुभव को मिथ्या कहने के लिए तैयार नहीं। उनका कहना है कि हमें सभी अनुभवों को अपनी-अपनी जगह सत्य स्वीकार करना होगा और उनका आपस का यथार्थ सम्बन्ध स्थापित करना होगा। किसी अनुभव को असत्य कह देना उसका समाधान नहीं। जबकि कोई अनुभव हमें प्राप्त है, तो वह किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी अंश में, जरूर अस्तित्व रखता है। उसके यथार्थ अस्तित्व और मात्रा का निरूपण ही दर्शन का काम है। इस प्रकार जगत् को असत्य तो हम कह ही नहीं सकते, हां, इसकी सत्यता के रूप-स्वरूप का वर्णन हमें अवश्य करना होगा।

हम पहले कह चुके हैं कि श्रीअरविन्द के लिए जगत् ब्रह्म की अभि-

व्यक्ति है, उसकी लीला, क्रीड़ा तथा रचना है। इस अभिव्यक्ति, लीला, क्रीड़ा के वास्तविक आशय का प्रश्न भी पहले हम उठा चुके हैं और उसका एकमात्र बुद्धिसंगत उत्तर हमने यह पाया है कि पूर्ण सत्-चित्-आनन्द की यह क्रीड़ा उसके स्वभाव-सिद्ध गुणों की वृद्धि और विकास के लिए ही हो सकती है। उपनिषद कहते हैं कि यह जगत् आनन्द से पैदा हुआ है, आनन्द में स्थित है और आनन्द में ही लौटकर चला जाता है। जागतिक अभिव्यक्ति का वास्तविक आशय आनन्द-वृद्धि ही हो सकता है।

विचार की स्थिति में हमें यह अनुभव करते हुए विशेष कठिनाई नहीं होती कि अंत में सत्ता जरूर ही एक अविभाज्य तथ्य होनी चाहिए। उसमें दो विरोधी तत्त्व नहीं हो सकते। और यदि अंतिम सत्ता सच्चिदानन्द है तो यह संगत नहीं कि वह अज्ञान, अविद्या और दुःख-ताप को पैदा करे। ऐसा आशय ही उसमें दोष पैदा कर देगा और यदि आशय आनन्द का होते हुए भी वह आनन्द-वृद्धि में सफल नहीं होता तो उसके सामर्थ्य में त्रुटि माननी पड़ेगी। पूर्ण सच्चिदानन्द के लिए दोनों ही अचिंतनीय हैं। परन्तु इधर मानव का नित्य का अनुभव भी असत्य नहीं। इसमें अविद्या और दुःख-ताप प्रत्यक्ष हैं। फिर सच्चिदानन्द की पूर्णता, आनन्द-वृद्धि, सर्वशक्तिमत्ता आदि के साथ मानव के व्यापक अज्ञान और दुःख-ताप का समन्वय हो तो कैसे ?

समन्वय अत्यन्त कठिन है, परन्तु श्रीअरविन्द इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं और अपने दार्शनिक ग्रंथ 'दिव्य जीवन' में इसका विस्तारपूर्ण समाधान देते हैं। पहले हम केवल दुःख के प्रश्न को लेते हैं। हम दुःख की शिकायत करते हैं, परन्तु क्या वास्तव में हमारे जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है ? यदि ऐसा ही होता, तो हमें जीवन से मोह क्यों होता ? इसमें जीवित रहने की इच्छा क्यों होती ? फिर क्योंकि दुःख हमें अखरता है, क्या इस बात का प्रमाण नहीं कि दुःख हमारे लिए असामान्य है तथा सामान्य अवस्था सुख की है। वस्तुतः हम अपने सामान्य सुख को ही अपनी सामान्य अवस्था मानते हैं। उसमें दुःखरूपी जो विघ्न

आते हैं अथवा जो विशेष सुख की अवस्थाएं आती हैं, उन्हें ही विशेष अनुभव करते हैं। इस सम्बन्ध में योग का अनुभव विशेष उपयोगी है। योग के अभ्यास द्वारा जब हम अपने बहिर्मुख मन-प्राण से तटस्थ होकर अपनी आंतर सत्ता में स्थित होते हैं तब हमारा सुख-दुःख का अनुभव और-का-और हो जाता है। ये दोनों, जो सामान्यतया विरोधी प्रतीत होते हैं, तब एकरस आनन्द के दो रूप अनुभव होते हैं। उस अवस्था में हमारे सामान्य जीवन के अन्य द्वन्द्व भी परस्पर-पूरक प्रतीत होने लगते हैं। इसमें हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुख-दुःख तथा अन्य द्वन्द्व मानव के बहिर्मुख व्यक्तित्व से किसी प्रकार घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं, हमारी भेदात्मक मानसिक चेतना के द्वन्द्वात्मक अनुभव हैं, ये इस विकास-अवस्था के धर्म हैं।

अन्तिम सत्ता के प्रश्नों पर विचार करते हुए, मानव स्वभावतः अपनी प्रकृति की सीमाओं को अंतिम सत्ता पर आरोपित कर देता है। यह वह करता अज्ञान में ही है, परन्तु इससे दार्शनिक समाधानों में विकट कठिनाई आ उपस्थित होती है। श्रीअरविन्द इस दोष से हमें बार-बार सचेत करते हैं और लगभग हर मौलिक प्रश्न को उठाने से पहले मांग करते हैं कि हम अपनी मानवीय भाव-भावनाओं से ज़रा तटस्थ होकर निर्वैयक्तिक भाव से विषय पर विचार करें।

दुःख के प्रश्न के विषय में भी यही सबसे बड़ी कठिनाई है। हम अपनी सुख की इच्छाओं के अधीन दुःख की काल्पनिक भावना बना लेते हैं और अपनी उच्छृंखल-सी इच्छाओं के अनुसार उसका हल चाहते हैं। निर्वैयक्तिक भाव में विचार करने से हम शीघ्र ही अनुभव करते हैं कि वास्तव में संसार में दुःख-सुख की अपेक्षा अधिक नहीं। यदि हम भौतिक जगत् में दुःख की स्थिति को देखें, तो हमें कुछ और भी मनोरंजक तथ्य मिलेंगे। दुःख का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ईंट-पत्थर, नदी-पर्वत को दुःख नहीं। वनस्पति में दुःख-सुख प्रसुप्त अवस्था की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं मात्र हैं। पशु में ये चेतन प्रभाव बनते हैं, परन्तु इनका रूप अभी ऐन्द्रियक है। मनुष्य में ये ऐन्द्रियक के साथ मानसिक तथा नैतिक भी

हो जाते हैं। शरीर और प्राण के दुःखों के साथ-साथ मानव चिंता, शोक, दुविधा तथा पापादि के दुःख भी भोगने लगता है। प्रत्यक्ष ही पशु की अपेक्षा मानव में दुःख अधिक हो जाता है। परन्तु प्रकृति के क्षेत्र में मानव में ही सजग विकास और उन्नति की संभावना सिद्ध होती है तथा मानव ही द्वंद्वमात्र को अतिक्रांत करके शुद्ध निरपेक्ष आनन्द को अधिगत करने का सामर्थ्य उपलब्ध करता है। तो क्या फिर भी दुःख हमारी शिकायत का कारण हो सकता है? क्या यह प्रकृति के महान् आयोजन में हमारे विकास का अवसर उपस्थित नहीं करता?

इस प्रकार निर्वैयक्तिक तटस्थ भाव से विचार करने पर दुःख का रूप-स्वरूप ही बदल जाता है। इसका अस्तित्व भौतिक स्तर पर नहीं है, मानव के द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्तर पर भी नहीं, यह केवल ऐन्द्रयिक-मानसिक स्तर से सम्बन्ध रखता है और वहां भी विकासक्रम से संबद्ध है। यहां यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा संभव नहीं था कि भगवान् विना दुःख के ही पशु और मानव में विकास की प्रेरणा दे सकते? यह प्रश्न उचित नहीं। हम सृष्टि के क्रम में विद्यमान आशय और अर्थ को समझने का यत्न कर सकते हैं और यही दर्शन का लक्ष्य और उद्देश्य है। हम यह प्रश्न उपस्थित नहीं कर सकते कि भगवान् ने किसी और तरह सृष्टि क्यों नहीं वनायी? यहां हमारी मानवीय इच्छाएं ही हमें फिर धोखा दे रही हैं।

हमने ऊपर देखा है कि मानव जव अपनी द्वन्द्वों की अवस्था को अतिक्रांत कर जाता है, तव उसके सुख-दुःख भी दूर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, जव वह अपनी भेदात्मक मानसिक चेतना तथा, शंकर के शब्दों में, नानात्व-भाव की अविद्या को पार कर जाता है तब उसे निरपेक्ष आनन्द उपलब्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष ही दुःख अविद्या का परिणाम है। अतः अविद्या का प्रश्न अधिक मौलिक है।

हम देख चुके हैं कि शंकराचार्य के लिए 'अविद्या' अथवा 'माया' एक विकट दार्शनिक समस्या वन गई थी। इसे वह न 'है', न 'नहीं है' ही

कह पाये। 'अनिर्वचनीय' शब्द द्वारा ही उन्हें इसका समाधान करना पड़ा। शंकर के बाद जो आचार्य आये, जैसे रामानुज, वल्लभ, माधव आदि, उन सबका आक्षेप विशेषतः माया के विचार पर ही था। वल्लभ ने कहा कि यदि ब्रह्म के अतिरिक्त माया भी है, तो सत्ता को अद्वैत कैसे कह सकते हैं ? रामानुज ने तो सात प्रसिद्ध युक्तियों द्वारा माया के विचार को अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण दिखलाने का यत्न किया। अधिकांश में इन प्रहारों के फलस्वरूप ही शंकर के अनुयायियों ने माया के विचार में कुछ परिवर्तन लाने का यत्न किया। भारत के आधुनिक दार्शनिक तो अधिकांश रूप में शंकर के मायावाद को बिलकुल ही दूसरा रूप दे देते हैं। डा० राधाकृष्णन् का मत है कि जगत् माया नहीं, बल्कि दृश्य सत्ता है। डा० दत्त और चटर्जी भी इसी पक्ष के हैं। पं० कोकिलेश्वर शास्त्री ने तो मायावाद को शंकराद्वैत से सर्वथा ही निकाल दिया है। वह तो जगत् को सत् बतलाते हैं, ब्रह्म का सगुण रूप कहते हैं। ब्रह्म भी निर्गुण नहीं, बल्कि सगुण-निर्गुण का आधार और समन्वय है।

परन्तु यह कहना पड़ेगा कि ये विचार आधुनिक विचारधारा और प्रवृत्ति से प्रभावित हैं। शंकर ने तो स्पष्ट शब्दों में जगत् को मिथ्या कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि शांकर भाष्य में कुछ-एक स्थल ऐसे जरूर हैं, जिनसे विपरीत संस्कार ग्रहण होता है। परन्तु उनका प्रधान आशय अवश्य ही यह है कि जगत् मिथ्या है। 'माया' या 'अविद्या' का विचार, जिससे वह जगत् के मिथ्यात्व का समाधान करते हैं, अत्यन्त कष्टदायक हो गया था और वह अनिवार्य भी था, क्योंकि यदि मन के नानात्व-बोध में और आत्मा के एकत्व-अनुभव में विरोध हो और उनमें विकासक्रम का कोई सम्बन्ध न हो, तो एक को जरूर मिथ्या कहना पड़ेगा। शंकराचार्य ने यही किया। उन्होंने तो अत्यन्त साहसपूर्वक आत्मानुभव को सत्य ठहराया और सब अपवाद और कठिनाई के बावजूद सारे सामान्य जागतिक बोध को मिथ्या कहा।

परन्तु क्या यह वास्तव में अनिवार्य था ? श्रीअरविन्द कहते हैं,

नहीं। यदि हम जगत् की जड़, प्राण और मन की क्रमिक अवस्थाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करें, इनमें वर्द्धनशील चेतना को अनुभव कर सकें तथा मन की अपूर्ण अवस्था को देख पायें, तो हम जरूर यह परिणाम निकालेंगे कि मन से उच्चतर ज्ञान के कारण भी संभव होंगे। श्रीअरविंद इन उच्चतर कारणों को प्रमाणसहित प्रस्तुत करते हैं। हमारा सामान्य मन उच्चतर मन, प्रबुद्ध मन, प्रज्ञा तथा अधिमन की अवस्थाओं में से होता हुआ अतिमानस की एक महान् निर्णायिक अवस्था तक पहुंच सकता है। इस क्रम में एकत्वभाव उत्तरोत्तर वढ़ता जाता है, परन्तु नानात्व खंडित नहीं होता। अतिमानस में एकत्व आधार वन जाता है और नानात्व उसमें निवास करता है। प्रत्यक्ष ही तव तो एकत्व और नानात्व परस्पर-विरोधी नहीं हैं। श्रीअरविन्द का कहना है कि यदि शंकराचार्य ने मानसोत्तर क्रमिक अवस्थाओं को पहचाना होता, तो उन्हें मन के नानात्व को मिथ्या कहने की आवश्यकता न पड़ती। वे इस अतिमानस-तत्त्व को युक्ति तथा अनुभव के संयुक्त वल से सिद्ध करके दिखलाते हैं और यह उनके दर्शन का एक विशेष वलशाली अंग है। इसीसे वह ब्रह्म और जगत् का समन्वय करते हैं और इसीसे पृथ्वी पर दिव्य जीवन की क्रियात्मक सम्भावना भी सिद्ध होगी। युक्ति के रूप में वह कहते हैं कि एकत्वमय ब्रह्म और नानात्वपूर्ण जगत् के वीच सत्ता का एक ऐसा सोपान अनिवार्य है, जहां ये इकट्ठे उपस्थित हों अथवा जहां नानात्व का एकत्व में से जन्म होता हो।

अच्छा, मान लिया, कि जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है, परन्तु इसके सत्य की मर्यादा क्या है? क्या यह उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है? श्रीअरविंद कहते हैं कि यह ब्रह्म की तरह सत्य नहीं है। यह ब्रह्म की अभिव्यक्ति के रूप में सत्य है और ऐसी अभिव्यक्ति के रूप में, जो जड़तत्त्व की घोर अचेतना में अधिकाधिक चेतना को प्रकट कर रही है। मानव में यह चेतना इस समय अधिकतम है, परन्तु वह भी अहंकार-केन्द्रित है और इस कारण ब्रह्म से अपना वास्तविक संवंध

अनुभव नहीं करती। प्रत्यक्ष ही जगत् में अविद्या का एक तत्त्व है। जड़ पदार्थ अचेतन है, वनस्पति प्रसुप्त चेतन-सी, पशु संवेदनग्राही और मनुष्य मननशील। परन्तु यह मननशीलता भी अविद्यायुक्त है, क्योंकि मनुष्य अपने-आपको सामान्यतः एक पूर्ण तत्त्व मानता है, साक्षात् और स्वाभाविक रूप में अपने-आपको ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति अनुभव नहीं करता। प्रश्न पैदा होगा, यह अज्ञान, यह अविद्या, क्यों? शंकर ने मानव के इस अज्ञान, इस अविद्या, को मिथ्या कह दिया था, परन्तु श्रीअरविंद इसे मिथ्या नहीं कहते। फिर समाधान क्या है? अंत में यह अविद्या जरूर ब्रह्म में ही माननी पड़ेगी, तो ब्रह्म, जो कि पूर्ण है, उसमें यह अज्ञान कैसे?

यही भारतीय दर्शन का परंपरासिद्ध कठिनतम प्रश्न है और इसका समाधान अब हमें यहां प्रस्तुत करना है। पहले जरा हम अपनी स्वार्थमयी मानवीय इच्छाओं के हस्तक्षेप से सजग हो जायं और निर्वैयक्तिक भाव में इसपर विचार करने का संकल्प कर लें। जरूर ही, यह अविद्या ब्रह्म में माननी होगी, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता हो नहीं सकती। परन्तु ब्रह्म में, जो कि पूर्ण है, जरूर ही यह भी शक्ति होनी चाहिए कि वह अपनी शक्ति को जहां जिस मात्रा में प्रयोग में लाना चाहे, ला सके, अर्थात् उसमें आत्म-परिसीमन (अपने-आपको सीमित करने) की शक्ति होगी। इसको दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं: सच्चिदानन्द आनन्दमय चित्-शक्ति है। इस चित्शक्ति में प्रत्यक्ष ही संगठन तथा एकाग्रता होगी। यह खंडित तथा विक्षिप्त नहीं हो सकती। जबकि यह संगठित तथा एकाग्र शक्ति है तब इसमें अपनी एकाग्रता को अपने अन्दर विभिन्न स्थलों तथा पक्षों पर कम या अधिक करने का भी सामर्थ्य होगा। बस, इतने में ही अविद्या का समाधान आ जाता है।

यह जगत् हमें क्रम-विकास द्वारा अचेतन में से निकलता दिखाई देता है। जड़ तत्त्व में चेतना का अभाव-सा है। वनस्पति, पशु और मानव में यह चेतना उत्तरोत्तर बलवती होती दिखाई देती है। मानव में आध्यात्मिक चेतना के क्रमिक विकास से यह बाह्यी चेतना की ओर बढ़ती प्रतीत

होती है। प्रत्यक्ष ही ब्राह्मी चेतना पहले जड़ में लीन हो गई होगी, ब्राह्मी चेतना ने आत्म-संकल्प से अपने-आपको अचेतना में परिवर्तित कर दिया होगा, नहीं तो उसमें से क्रमशः यह चेतना का विकास कैसे संभव हो पाता ? यही प्रश्न पैदा हो सकता है कि ब्रह्म ने अपने-आपको अंशतः भी जागतिक अभिव्यक्ति के रूपों में, अचेतना या निश्चेतन में, क्यों परिवर्तित कर दिया ? इस 'क्यों' का उत्तर संभव नहीं है, परन्तु जागतिक व्यवहार में हमें दिखाई यह दे रहा है कि आत्म-विभाजन और आत्म-विस्मृति में से आत्म-उपलब्धि का क्रम चल रहा है। अतः हम अनुमान लगाते हैं कि सच्चिदानन्द ने आत्मोपलब्धि के आनन्द के लिए ही यह आत्म-विभाजन तथा आत्म-विस्मृति की सृष्टि की होगी। अहंकार की सृष्टि का अर्थ आत्म-प्राप्ति है। अतः अविद्या आत्म-ज्ञान का साधन है। अविद्या मानव का अभिशाप नहीं, बल्कि उसके विकास का दिव्य सुयोग है। इसके बिना वह आत्म-जिज्ञासा और आत्मोपलब्धि के परमानन्द को कैसे प्राप्त करता ? यहां यह भी याद रखना होगा कि अविद्या में आत्म-विस्मृति नितान्त नहीं होती, क्योंकि बहिर्मुख व्यक्तित्व के पीछे स्थित होकर आत्मा सदा ही मानव की गतियों का निरीक्षण करती रहती है तथा उसे यथासंभव प्रेरणा देती रहती है। अविद्या का सारा स्वरूप इतना ही है कि मानव अपने बहिर्मुख व्यक्तित्व के साथ, जो कि उसका एक अंशमात्र है, लगभग पूर्ण तादात्म्य-भाव बना लेता है। इससे लाभ भी हुआ। प्रकृति के क्षेत्र में व्यक्तित्व की, सजग निज-भाव की, अहं की और व्यक्तिगत चेष्टा-कर्म की संभावना चरितार्थ हो गई। प्रत्यक्ष ही, प्रकृति की यह चरितार्थता अत्यन्त महान् थी। इसीसे अहंमय बहिर्मुख व्यक्तित्व में आंतरिक एकत्व चरितार्थ करना तथा अहंमय व्यक्तियों के समुदाय में एकत्वमय समाज चरितार्थ करना संभव हो जाता है। और जब ये नये आदर्श चरितार्थ हो जायंगे, जब व्यक्ति में आत्मिक एकत्व स्थापित हो जायगा और समाज में भी एकत्व, समस्वरता और परस्पर प्रेम स्थापित हो जायंगे तब मानव अपने विकास के पूर्वार्द्ध को अतिक्रान्त करके उत्तरार्द्ध में प्रवेश करेगा, जहां

विकास अविद्या के माध्यम से नहीं, बल्कि विद्या के माध्यम से होगा, ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर !

परन्तु यह अवस्था कभी सिद्ध होगी भी ? श्रीअरविन्द कहते हैं, जरूर होगी। यह तो स्वयं प्राकृतिक विकास का ध्येय है, इसके लिए तो प्रकृति अपनी वैश्व शक्ति से कर्म कर रही है और इसे ही अपनी सहज गति से धीरे-धीरे अधिगत करती जा रही है। फिर मानव-अवस्था में यह विकास द्रुततर गति से चलना सम्भव हो जाता है। यदि मानव प्रकृति के गुप्त आशय को समझकर उसे सहयोग दे, तो भावी संभावनाएं शीघ्रतर भी चरितार्थ हो सकती हैं। इस सम्बन्ध में श्रीअरविंद विशेष रूप से कहते हैं कि यदि अतिमानस तत्त्व को, जो कि एक उच्चतर स्तर है, योगशक्ति से पृथ्वीतल पर अवतरित किया जा सके तो यहां के व्यापक विकास में एक महान् अन्तर आ जायगा, आज की कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा आध्यात्मिक अवस्थाओं को अधिगत करने के लिए एक गुप्त व्यापक प्रभाव की सहायता मिल जायगी, विकास का एक महान् उच्चतर स्तर यहां सक्रिय रूप में काम करने लगेगा। श्रीअरविंद की अपनी योगसाधना का ध्येय और लक्ष्य वास्तव में यही था और उसी कार्य को अब श्रीमाताजी आगे चला रही हैं। अतिमानस तत्त्व का अवतरण दिव्य जीवन की चरितार्थता के लिए अनिवार्य है, क्योंकि तभी तो मानव-व्यक्तित्व पूर्णतया रूपांतरित होकर मानवोत्तर दिव्य जीवन का नया स्तर पृथ्वी पर प्रस्तुत कर सकेगा। तब जो चेतना प्रकट होगी, वह अविद्या से मुक्त होगी और उसका प्रादुर्भाव हमारे अविद्या के प्रश्न का मूर्त और प्रत्यक्ष समाधान होगा। आज हम उसे युक्ति और कल्पना से जानने की कोशिश करते हैं, तब वह साक्षात् अनुभव का विषय बन जायगी।

५ : : श्रीअरविंद का अतिमानस-तत्त्व

श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि अपूर्व रूप में आशावादी है। इसमें निराशा के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं। हम स्वाभाविक रूप से विकास

कर रहे हैं। प्रकृति स्वयं योग-साधना कर रही है, जिसका फल हर किसीको उपलब्ध हो रहा है। इसपर यदि मानव सजग रूप में साधना द्वारा प्रकृति के आशय को पूरा करने में योगदान दे तो शताब्दियों का विकास वर्षों में सिद्ध हो सकता है। हमारे सुख-दुःख आदि द्वन्द्व हमारी मानसिक अवस्था के धर्म हैं और प्रकृति सहज रूप में इन्हें अतिक्रांत करने का यत्न कर रही है। जड़, प्राण और मन में अतिमानस की स्थिति चरितार्थ होने जा रही है और इसके चरितार्थ होने से जड़, प्राण और मन की वर्तमान अवस्थाओं में अपूर्व परिवर्तन आ जायगा। ऐसा ही परिवर्तन, जैसाकि जब निष्प्राण जड़ में प्राण प्रादुर्भूत हुआ था अथवा संज्ञारहित प्राण में चेतना प्रकट हुई थी अथवा पशु की चेतना में मानव की मन-बुद्धि प्रकाशित हुई थी, आया था। अतिमानस की आध्यात्मिक चेतना का अवतरण और प्रकाश पार्थिव जीवन के लिए प्राकृतिक विकास के पूर्वगामी क्रांतियों से भी कहीं बढ़कर क्रांति होगी और यह आश्वासन मात्र के लिए भविष्यवाणी-सी नहीं है, बल्कि प्रकृति के विकास-क्रम का स्पष्ट और अनिवार्य संकेत है।

प्रत्यक्ष ही, श्रीअरविन्द का अतिमानस उनकी जीवन-दृष्टि तथा दर्शन का विशेष महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके अनिवार्य विकास का विचार ही हमारे सारे जीवन में नई आशा भर देता है, हम एक नये महान् भविष्य की प्रतीक्षा करने लगते हैं। यह आशा और यह प्रतीक्षा अपने-आपमें हमें हमारे भूत और वर्तमान के मोहों, आग्रहों और पक्षपातों के प्रति उदासीन बना देती है तथा हम एक नये महान् आध्यात्मिक आदर्श की भावना से प्रेरित होकर जीवन में अग्रसर होने लगते हैं। इस आदर्श को किसी हद तक हम पहले वर्णित कर चुके हैं, परन्तु यहां हम इसे कुछ और स्पष्ट तथा विस्तृत रूप में देखना चाहेंगे।

हमारा सामान्य व्यक्तित्व हमारे विशाल और विस्तृत अस्तित्व का उपरितल मात्र है। यह चेतनातल बहिर्मुख है। यह परिस्थिति के साथ लेन-देन के व्यवहार से विकसित हुआ है और बाह्य वस्तुओं को जानने तथा

उनपर कर्म करने में ही विशेष सशक्त है। परन्तु यह वस्तुओं के भी वाह्य रूप-रस-गंध को ही जान पाता है, उनके आंतरिक अस्तित्व के बारे में यह अनुमान ही लगाता है। इसी प्रकार वस्तुओं का व्यापक ज्ञान तथा जगत् का संपूर्ण ज्ञान भी इसके लिए अनुमान का ही विषय है। अपने विषय में भी यह तलीय संवेदनों, भावों और इच्छाओं से ही स-ज्ञान होता है, अपने आंतरिक आध्यात्मिक सत्य से अनभिज्ञ ही रहता है। हमारा सामान्य व्यक्तित्व जहां ज्ञान में इतना सीमित है, वहां भावमय जीवन में सुख-दुःख के द्वन्द्वों तक ही सीमित है। इसके सुख में सदा दुःख मिला रहता है, पूर्ण सुख, निरपेक्ष आनन्द, इसके भाग्य में नहीं वदा। इसी प्रकार इसकी कर्तृत्व-शक्ति भी प्रायः विरोधपूर्ण विभाजित चेष्टा होती है। प्रायः हर इच्छा की कोई विरोधी इच्छा होती है। प्रायः हर काम में विरोध, संघर्ष और आयास रहता है।

यह हमारे मानसिक स्तर के जीवन का रूप है, जिसे हम अपने अनुभव से भली प्रकार संतुष्ट कर सकते हैं। इसकी अपूर्णताएं, इसकी समस्याएं, इसके कष्ट हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक-राजनैतिक जीवन के दैनिक अनुभव हैं। इसकी कठिनाइयां आज के सांस्कृतिक जीवन में विशेष उग्र हो उठी हैं, जो हमपर संकट और गतिरोध बनकर टूट पड़ी हैं। अतिमानसिक स्तर का मानवीय व्यक्तित्व ही वहुत भिन्न प्रकार का होगा और कुछ-एक व्यक्तियों में चरितार्थ होने से भी यह मानव के सामने जीवन और कर्म का एक महान् आदर्श उपस्थित कर देगा। मानव के इतिहास में जब-जब भी विशेष शक्तिशाली महापुरुष प्रकट हुए हैं, उन्होंने सामान्य जनता में अपने अकेले जीवन के प्रभाव से नई भावना भर दी है और जनता अपूर्व त्याग करने में सफल हुई है। अतिमानसिक स्तर आध्यात्मिक जीवन का एक अत्युच्च शिखर है, क्योंकि इसकी सर्वप्रधान अनुभूति है सत्तामात्र से घनिष्ठ व्यावहारिक एकता। आज जातियों और राष्ट्रों से मेल-मिलाप कितना कठिन हो रहा है। परन्तु यह क्यों न हो? क्या संसार के नेताओं में आज एक भी ऐसा है, जो मानव-एकता को

प्रत्यक्ष सत्य के रूप में अनुभव करता हो, जो सबके सामूहिक हित में ही हरएक का हित देखता हो, जिसके मन में भय, शंका और अविश्वास नितांत नहीं हों। जो एकता के पोषक हैं, वे यदि स्वयं को व्यापक मानव-हित और प्रेम से वस्तुतः प्रेरित अनुभव नहीं करते तो कुछ आश्चर्य नहीं कि वे जनता में उस आदर्श के लिए सक्रिय भावना पैदा करने में सफल नहीं हो सकते। अतिमानसिक अवतरण ऐसे व्यक्ति पैदा कर देगा, जिनके लिए एकत्व अटल अनुभव होगा, जो व्यापक प्रेम को अपना स्वाभाविक गुण पायेंगे और इनके अनुरूप ही उनका सब कर्म और व्यवहार होगा। प्रत्यक्ष ही, इससे मानव-समाज और संस्कृति में एक नया आदर्श मूर्त्त रूप में आ उपस्थित होगा, जो शनैः-शनैः हमारे सारे जीवन पर प्रभाव डालने लगेगा। आज जहां हमें अपने तत्काल के स्वार्थों की चिंता रहती है, तब हम अपने विशाल और स्थायी हित को सोचेंगे और उसमें हमें अपने और पराये हित में विरोध नहीं दिखाई देगा। यह दृष्टि हमारे सारे जीवन में एक नया मापदंड ला देगी। इससे हमारा जीवन क्या-से-क्या हो जायगा, यह आज कल्पना में भी लाना कठिन है।

अतिमानसिक स्तर का मानवीय व्यक्तित्व भी मानसिक स्तर जैसा भेद और द्वन्द्व-व्याप्त संगठन नहीं होगा। वह आत्मा की एकता से परिपूर्ण सर्वथा रूपांतरित व्यक्तित्व होगा। वह आत्मा की प्रज्ञा-शक्ति से वस्तुओं तथा सत्ता के आंतरिक मर्म को ग्रहण करने में समर्थ होगा। उसमें इंद्रियां भी वस्तुओं के केवल वाह्य रूप-रस को ही नहीं, वल्कि उनके आंतरिक तत्त्व, और उसके साथ ही, उनके वाह्य गुणों को प्रस्तुत करेंगी। सुख-दुःख के द्वन्द्व के स्थान पर आंतरिक आनन्द स्वाभाविक गुण हो जायगा और कर्तृत्व में भी विभाजन की जगह पूर्ण एकता आधार वन जायगी।

प्रत्यक्ष ही, अतिमानसिक अवतरण तथा विकास हमारे जीवन में अपूर्व अन्तर ला देगा, जो उत्तरोत्तर विस्तारित होकर एक नये जीवन का क्षेत्र वन जायगा। यह क्षेत्र अपने-आपमें दिव्य जीवन का नमूना होगा और इस जीवन की मर्यादा के अनुसार रहने-सहनेवाले व्यक्ति, शरीर के रूप

से मनुष्य होंगे, परन्तु चेतना के स्वरूप से वे दिव्य श्रेणी के अन्तर्गत आयेंगे। उनमें मानव के द्वन्द्व नहीं होंगे, वे पूर्णतया एकत्वगुणसंपन्न होंगे। उनमें मानव की तरह व्यक्तित्व का अधिकांश भाग निश्चेतन, अवचेतन तथा अतिचेतन नहीं होगा, वे पूर्णतः चिन्मय होंगे। यह मानवोत्तर अति-मानसिक जाति का स्वरूप होगा, जिसके जन्म से मानवजाति का महान् पथप्रदर्शन तथा कल्याण-साधन होगा।

स्पष्ट ही, अतिमानस श्रीअरविन्द की जीवन-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण अंग है। यह उनके सत्ता-शास्त्र का भी समान रूप में प्रभावशाली भाग है। हम सत्ता के आठ स्तर बता चुके हैं। ये, वास्तव में, पूर्ण ब्रह्म के विभिन्न क्रमिक सोपान हैं, जिनमें से जागतिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभी अधि-कांश भाग अतिचेतन है। जड़, प्राण और मन तो जगत् के चरितार्थ सत्य हैं और अन्तरात्मा, अतिमानस, सत, चित् और आनन्द अभी अचरितार्थ अतिचेतन सत्य हैं। परन्तु यदि ब्रह्म ने अपने संकल्प से अपने-आपको जड़ के निश्चेतन में छुपा लिया है, निर्वतित कर लिया है, तो फिर उत्तरोत्तर वह पूर्णतया ही उसमें से विकसित, निर्वतित भी होगा। वास्तव में, यही जड़-जगत् में दिव्य जीवन के चरितार्थ होने की संभावना का प्रमाण है। यदि वह पूर्ण चेतन निश्चेतन में न छुप गया होता तो उसका यहां पूर्ण प्रकाश भी संभव न हो पाता।

परन्तु ब्रह्म का निश्चेतन में निवर्तन किस क्रम से हुआ तथा इसका पुनः विवर्तन किस क्रम से सिद्ध होगा, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। हम दार्श-निक विचार में प्रायः ब्रह्म और जगत् को, दो ध्रुवों के रूप में ले लेते हैं और फिर उनमें समन्वय विठाने का यत्न करते हैं। परन्तु इनके बीच की कड़ियों के बिना उनमें संबंध बैठता ही नहीं। शंकराचार्य का अद्वैत इसी कारण मायावाद में परिणत हो गया। श्रीअरविन्द बीच की कड़ियों को बड़े परिश्रम से प्रस्तुत करते हैं और सत्ता के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में, सत्, चित् तथा आनन्द और जड़, प्राण, मन तथा अन्तरात्मा में अति-मानस को वह मार्मिक कड़ी बतलाते हैं, जिसके द्वारा सच्चिदानन्द बहुत्व

और निश्चेतन में निर्वातित होता है और जिसके द्वारा ही पुन: वह अपनी पूर्ण शुद्ध अभिव्यक्ति को चरितार्थ करेगा। सच्चिदानन्द के शुद्ध एकत्व और जगत् के नानात्व के वीच अतिमानस वह तत्त्व है, जिसमें सत्ता के ये दोनों सत्य समन्वित रूप में चरितार्थ होते हैं। ऐसा तत्त्व जगत् की सृष्टि के लिए आवश्यक है। यह युक्ति की मांग है तथा योगानुभव का तथ्य है। इस प्रकार अतिमानस जगत् की सृष्टि तथा विकास की परिपूर्णता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। श्रीअरविन्द के दर्शन में अतिमानस एक अत्यन्त विशेष तत्त्व है और इसी कारण इसे अतिमानस अथवा दिव्य जीवन का दर्शन कहा जाता है।

अतिमानसिक अथवा चिन्मय पुरुष और उनके व्यक्तित्व का हमने ऊपर संक्षिप्त वर्णन किया है। यह वर्णन मानवोत्तर व्यक्तित्व तथा उसके दिव्य जीवन का संकेतमात्र है। आज मानसिक स्थिति से हम उसकी एक कल्पना ही कर सकते हैं, उसका विशद वर्णन संभव नहीं। अति-मानस तत्त्व मन से वहुत भिन्न है। क्या पशु के ऐन्द्रियक संवेदन मनुष्य के मानसिक-वौद्धिक व्यवहार और रचना की कल्पना कर सकते थे? मन भी अतिमानस और उसके दिव्य जीवन का वर्णन नहीं कर सकता। अतिमानस अपने जीवन को कैसे निर्धारित तथा विकसित करेगा, यह भला आज हम कैसे कहें? हां, हम यह कह सकते हैं कि उसमें मन की अपूर्णताएं नहीं रहेंगी। वह बहिर्मुख और द्वन्द्वपीड़ित नहीं होगा, वह सर्वथा आत्मिक और एकत्वपूर्ण होगा। उसमें दुविधा, शंका और शोक नहीं होंगे, वह निश्चयपूर्ण और आनन्दमय होगा। प्रत्यक्ष ही, यह पृथ्वी पर प्रकट होकर एक नये जीवन और नई संस्कृति की सृष्टि करेगा, अपने अनुकूल और अनुरूप एक नया सामाजिक वातावरण पैदा करेगा, परन्तु उस जीवन, उस संस्कृति, उस वातावरण का वर्णन हम आज कैसे कर सकते हैं!

२

दर्शन
की
यथार्थ भावना

१ : दर्शन क्या है ?

दर्शन जीवन और सत्ता के समग्र सत्य की खोज तथा उपलब्धि है। यह केवल खोज ही नहीं और न यह विभिन्न सम्मतियों का खिलवाड़ ही है। बुद्धि का स्वभाव है कि वह सम्मतियों के मोह में फंस जाती है और सम्मतियां वनाने में उसे रस भी वहुत आने लगता है। परंतु दर्शन जीवन की गंभीर प्रवृत्ति है, समूचे जीवन की तृप्ति इसका उद्देश्य है, केवल बुद्धि की नहीं।

भारत में जीवन की इस प्रवृत्ति को सार्थक भाव में ही दर्शन कहा गया है। यह मानसिक-बौद्धिक कसरत और गवेषणा मात्र नहीं, यह दर्शन है सत्य का, जीवन के तत्त्व का। तभी दर्शन जीवन का पथ-प्रदर्शक वनता है, जीवन को तृप्त करता है।

बुद्धि सामान्य जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यह हमारी पथ-प्रदर्शिका है। चिन्तन और विचार से हम जीवन के प्रश्नों का समाधान खोजते हैं और पाते हैं। बुद्धि अपने सामान्य व्यवहार के स्तर से उठ-कर समग्र जीवन और समूची सत्ता के विषय में जिज्ञासा उठाती है और जव वह सत्य-प्रेम से प्रेरित और प्रचालित होकर शुद्ध तटस्थ भाव में विचार करती है तो जीवन के रहस्यों को वहुत-कुछ भांप जाती है। इसलिए दर्शन का सामान्य विकास बुद्धि से ही होता है। चिंतन और

विचार हमारे बड़े साधन हैं। शुद्ध चिंतन जीवन का गौरवमय धन है, अपूर्व बल है। परंतु दार्शनिक प्रवृत्ति की परिसमाप्ति होती है सत्य के दर्शन में ही। सत्य और सत्ता के विषय में चिंतन-मात्र से जीवन तृप्त नहीं होता। सत्ता-विषयक कल्पनाएं यथार्थ दार्शनिक जिज्ञासा को संतोष प्रदान नहीं करतीं। यह जिज्ञासा तो सत्य उपलब्ध करके ही तृप्त होती है। यह सत्य और सत्ता का साक्षात् दर्शन चाहती है, इनके विषय में यह पूरी-पूरी निश्चयात्मकता मांगती है।

यह है दर्शन की यथार्थ भावना, उसका वास्तविक स्वरूप। प्रत्यक्ष ही, यह जीवन की कैसी अद्भुत प्रवृत्ति है, कैसी अनिवार्य गति है ! इसके बिना क्या जीवन सारा ही संदेहशील तथा दुविधापूर्ण नहीं बना रहेगा !

पश्चिम की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ओर इतना ज्ञान का विस्तार और विकास है कि मनुष्य समझता है कि मैं पृथ्वी के अतिरिक्त अनंत आकाश के अन्य नक्षत्रों पर भी अधिकार प्राप्त कर लूंगा और दूसरी ओर इतनी संदेहशीलता है कि उसे जीवन और मानव-संस्कृति मात्र खतरे में दिखाई देती है। प्रश्न पैदा होता है, ऐसा क्यों ? क्यों नहीं यह सारा ज्ञान हमें जीवन के पथ-प्रदर्शन में निश्चयता प्रदान करता ? क्यों नहीं हम जीवन को इसके यथार्थ विकास-क्रम में आगे बढ़ा सकते ? जीवन का उद्देश्य निश्चय ही महत्तर जीवन, विशालतर जीवन, समृद्धतर जीवन, अधिक आशापूर्ण तथा संतोषप्रद जीवन ही हो सकता है, जीवन का उद्देश्य जीवन का अन्त नहीं हो सकता। यदि आज जीवन हमें उस स्थिति में ले आया है, जहां समूचे जीवन का ही भयपूर्ण अन्त दिखायी देने लगा है, तो क्या जिस रास्ते से हम चलते आ रहे हैं, उसपर ही हमें संदेह न होने लगेगा ?

आधुनिक यूरोप एक विलक्षण सांस्कृतिक पथ से विकसित हुआ है। १६वीं सदी के प्रारंभ में इसने मध्ययुगीन तार्किक परम्पराओं के विपरीत प्रतिक्रिया के रूप में एक नये दृष्टिकोण को अपनाया। उस दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति सत्ता है, बुद्धि और इन्द्रियां ज्ञान के साधन हैं। सत्ता को

प्रकृति मानकर और मानव को बुद्धि और इन्द्रियां लेकर सारे वर्तमान जीवन का निर्माण हुआ है। मनुष्य ने बड़े परिश्रम से काम किया है और उसने बड़ी सफलतापूर्वक इन्द्रियों और बुद्धिरूपी मानव के लिए समृद्ध और सुखपूर्ण संस्कृति को पैदा किया है। यदि मानव वस्तुतः ऐसा ही होता, तो उसे आज खूब संतुष्ट होना चाहिए था, परन्तु मानव-जीवन क्या मात्र इतना ही है ?

क्या उसमें इंद्रियों के सुखों के अतिरिक्त, बुद्धि के रसपूर्ण कौशल से परे, हृदयगत निरपेक्ष शान्ति, निरपेक्ष आनन्द, निर्मम प्रेमभाव, समग्र सत्ता के निश्चयात्मक ज्ञान के लिए अदम्य जिज्ञासा नहीं है ? क्या जीवन बार-बार इन अन्तिम मूल्यों को नहीं खोजता और इनकी कुछ झांकी पाकर ही वह सहारा नहीं उपलब्ध करता ? और क्या आधुनिक यूरोप की जीवन-जिज्ञासा में इनका कुछ स्थान रहा है अथवा है ?

वस्तुतः यूरोप की वैज्ञानिक जिज्ञासा में निरपेक्ष ज्ञान तथा अन्य निरपेक्ष तत्त्वों का स्थान कम ही रहा है। सारा पुरुषार्थ ही प्रकृति के सापेक्ष ज्ञान और इनके अन्य सापेक्ष साधनों के लिए रहा है। यह सापेक्ष ज्ञान और साधन-सामग्री इसने प्रचुर मात्रा में जुटा ली हैं और इन सबके सापेक्ष ज्ञान और सापेक्ष बल इसे खूब प्राप्त हैं। परन्तु आज खटक रहा है अभाव—निश्चयात्मक ज्ञान का तथा जीवन के अचूक सहारे का अभाव !

दार्शनिक जिज्ञासा में एक आधारभूत प्रश्न है—क्या निरपेक्ष के बिना सापेक्ष का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है ? प्रत्यक्ष ही, एक प्रकार का ज्ञान जरूर हो सकता है, परन्तु क्या उसमें निश्चयता होगी ? व्यावहारिक शैली की एक निश्चयता भी हो सकती है, परन्तु वह मूलगत नहीं हो सकती। दार्शनिक दृष्टि से आज यह निर्णय दिया जा सकता है कि यूरोप ने अपनी जिज्ञासा में एक आधारभूत भूल की। उसने यह संभव माना कि निरपेक्ष की जिज्ञासा और ज्ञान के बिना ही सापेक्ष इन्द्रियगोचर प्रकृति का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, और इसीलिए वह आज इस अप्रिय सांस्कृतिक संकट में पड़ गया है तथा उसके नाते सारा

जगत् पड़ा हुआ है ।

वैज्ञानिक जिज्ञासा की उपलब्धि अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण है । यह मानव-इतिहास की एक स्थायी वस्तु रहती प्रतीत होती है । परंतु यह सत्ता के सापेक्ष स्वरूप का सापेक्ष ज्ञान है, इसमें जीवन के निरपेक्ष मूलगत तत्त्व और जुड़ने चाहिए । उनके जुड़ने से इसके मूल्यों का नया मूल्यांकन हो जायगा, जिससे इसके सापेक्ष भाव में निरपेक्ष मूलगत तत्त्वों की निश्चयता आ जायगी और तव आज की संदेहशीलता और द्वन्द्वपूर्णता आनन्ददायक निश्चयता में परिवर्तित हो सकेगी ।

पश्चिम में दर्शन ने विज्ञान का अनुसरण किया । दर्शन का क्षेत्र इन्द्रियगोचर प्रकृति नहीं होता, वल्कि समग्र सत्ता, पूर्ण सत्य तथा समूचा जीवन होता है । परन्तु इसने सत्ता, सत्य और जीवन पर वल कम दिया और इनको जानने के साधन बुद्धि पर अधिक । परिणाम यह हुआ कि फिलासफी वस्तुओं का चिन्तनपूर्ण विचार वन गई । सत्ता और सत्य काल्पनिक विचार का विषयमात्र रह गए । उनकी हर उपाय से अधिगत करने की अदम्य प्रवृत्ति लुप्त हो गई । ऐसी फिलासफी का जीवन से भी सम्पर्क कम हो गया । वह वाद-विवादों का एक विज्ञान वनने लगी । इस प्रवृत्ति के विपरीत प्रतिक्रियाएं भी वहां वहुत हुईं, परन्तु वहां दर्शन का प्रधान स्वरूप, इस आधनिक युग में, सत्ता-विषयक वौद्धिक गवेषणा और परिकल्पना ही रहा है ।

इस प्रकार दर्शन भी वैज्ञानिक जिज्ञासा में यथेष्ट संशोधन न ला सका, उसे गांभीर्य और निरपेक्षता प्रदान न कर सका ।

परन्तु यूरोपीय जीवन का वल कोई सामान्य वल नहीं । यह सब होते हुए भी यूरोप वलवान् है, ठीक सांस्कृतिक रूप में ही । उसका यह वल है बुद्धि का वल, चिन्तन का वल, विचार का वल । इसके लिए उसने लंवी साधना की है और इन्हें उसने प्राप्त किया है । परन्तु इन्हींकी पराकाष्ठा को प्राप्त करके वह इनकी सीमा को दर्शा रहा है । आज लगभग प्रत्यक्ष-सा ही अनुभव हो रहा है कि विश्लेषणात्मक बुद्धि के साथ-साथ समग्रतापूर्ण

निरपेक्ष तत्त्वों को जाननेवाली संश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है—ऐसी दृष्टि की, जो जीवन और सत्ता को अंग-अंग में और अंश-अंश में ही न देखे, वल्कि उन्हें उनके समग्र भाव में भी देखे, उनके 'भूमा' रूप में उनके 'अल्प' रूप को यथार्थ में अनुभव करे। तव भला आज के जीवन का असंतुलन कैसे रह सकेगा ?

२ : : जगत् की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति में भारत का योगदान

भारत एक विशेष स्वभाव रखता है। यह स्वभाव उसके समग्र इतिहास में झलक रहा है। उसका वर्तमान जीवन भी इसे प्रतिलक्षित कर रहा है और स्वाधीनता के वाद इस स्वभाव को पुनः प्राप्त एवं विकसित करने के लिए एक गंभीर प्रवृत्ति भी उसमें देखने में आ रही है। यह स्वभाव है मूलतः वस्तुओं की जड़ तक पहुंचने की प्रवृत्ति। हम कह सकते हैं कि भारतीय चेतना स्वभाव से दार्शनिक है। यह अन्तिम सत्य के लिए विशेष भावना और जिज्ञासा रखती है। आधारभूत को जाने विना व्यावहारिक भाग को जानकर यह सन्तोष नहीं मानती। इस वृत्ति में वड़ा वल है। इससे यह जीवन के और सत्ता के मूलगत आध्यात्मिक तत्त्व को प्राप्त करने में सफल हुई। वस्तुतः इससे यह जीवन के मूलभूत रहस्यों को अधिगत कर सकी और इससे जो जीवन का पथप्रदर्शन हुआ है, वह निश्चय ही सुन्दर हुआ है। भारतीय संस्कृति ने जो जीवन-काल पाया है, वह मानव-इतिहास में आश्चर्य की वस्तु है और उसका जीवन-बीज अनेक विनाशकारी आक्रमणों में भी सुरक्षित रहकर पुनः-पुनः पनप उठता है।

भारत में सत्य और सत्ता के लिए तथा पूर्ण सत्य और समग्र सत्ता के लिए वस्तुतः अदम्य भाव रहा है और इस भाव के लिए यहां रही है पूरी स्वतन्त्रता। इस जिज्ञासा और स्वातंत्र्य के फलस्वरूप इसने जो सत्य और सत्ता-विषयक मूलगत दृष्टि प्राप्त की है, उसे यह स्वयं भली प्रकार पुनः प्राप्त और विकसित करे और उसे व्यापक रूप में जगत् के

सम्मुख प्रस्तुत करे, यह भारत की वर्तमान जगत् को देन होनी चाहिए। इस दृष्टि का मर्म है कि जगत् और जीवन का सत्य इनका तलीय स्वरूप नहीं, सत्य इनकी गहराई में एक अत्यन्त अद्भुत तत्त्व है। उसे हम इन्द्रियों से ग्राह्य रूप में रस, गंध आदि में तथा बुद्धि के विवेचन द्वारा नहीं, वल्कि एक गंभीर तादात्म-भाव द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। यही सत्य जीवन है, यही सत्य सदा विजयशील होता है। इसीमें जीवन की सब गतियां समन्वित होती हैं और यहीं से जीवन का यथार्थ विश्वासपूर्ण पथ-प्रदर्शन हो सकता है, और यह सत्य असीम और अनन्त है, इसमें नित्य-नये आविष्कार हो सकते हैं, इसका स्वभाव ही सृजनशीलता है। इसकी हर झांकी जीवन-वृद्धि का साधन होती है।

यह सत्य का भाव, असीम, अनंत, सृजनशील तथा स्वातंत्र्यपूर्ण आज की संस्कृति की मांग है। आज की संस्कृति एक वहिर्मुख और मानसिक सत्य पर आधारित है, इसीलिए जीवन का समन्वयपूर्ण पथ-प्रदर्शन इसके लिए असंभव हो रहा है। भारत तात्त्विक सत्य का विशेष जिज्ञासु रहा है और यह इसके जीवन का मुख्य आधार रहा है, अतः इससे ही जागतिक संस्कृति आशा कर सकती है और इसे देना भारत का ही कर्त्तव्य वनता है।

इस कर्त्तव्य को निभाने के लिए भारत को स्वयं पहले यथार्थ दार्शनिक भाव और भावना उपलब्ध करने होंगे। दर्शन, हम कह चुके हैं, समग्र जीवन की जिज्ञासा है और समग्र जीवन की तृप्ति ही इसका उद्देश्य है। इससे यह समग्र जीवन की ही साधना वन जाता है। इसे बुद्धिमात्र की व्यस्तता मानना पथभ्रष्ट हो जाना होगा।

परन्तु दार्शनिक चिन्तन और विचार अनिवार्य तथा अत्यन्त उपयोगी साधन हैं। इन्हींसे हम अपनी दार्शनिक यात्रा शुरू करते हैं और ये हमें वहुत दूर तक ले चलते हैं, परन्तु इनका वास्तविक स्वरूप विचारणीय है। एक चिन्तन होता है अहंमय। यह चिन्तन अपने-आपको सबकुछ समझता है और अभिमानपूर्वक विश्वास रखता है कि मैं सबकुछ जान लूंगा। एक दूसरा चिन्तन होता है, जिसमें अहंभाव प्रवल नहीं होता,

वहां प्रवल होता है ज्ञानत्व सत्य। चिन्तन सत्य के प्रति विनम्र होता है, कृतज्ञ होता है। ऐसे चिन्तन के प्रति सत्य अपने समग्र रूप को अधिक आसानी से प्रकाशित कर सकता है, अथवा ऐसा चिन्तन सत्य को उसके समग्र रूप में अधिक आसानी से प्राप्त कर लेता है। फिर ऐसा चिन्तन अपने से उच्चतर ज्ञान के साधनों के लिए भी भावना विकसित कर लेता है।

ऐसा दार्शनिक चिन्तन, हम कह सकते हैं, हमारी प्रथम आवश्यकता है। अहंमय चिन्तन अपनी वृत्ति से समग्र सत्य के प्रति उन्मुख नहीं होता। वह उग्र इच्छाओं से सीमित होता है। और, क्या सत्य के प्रति ऐसा आक्रमणकारी भाव उचित है? क्या सत्य के प्रति आदर, नम्रता और कृतज्ञता का भाव नहीं होना चाहिए? जो सत्य हम अहंभाव से प्राप्त करेंगे, उसे सर्वहित के लिए कैसे वरत सकेंगे?

प्रत्यक्ष ही, ऐसे दार्शनिक चिन्तन को विकसित करने के लिए हमें एक तटस्थतापूर्ण समभाववाला व्यक्तित्व विकसित करना पड़ेगा। यदि राग, द्वेष, भय, क्रोधादि हमारे चित्त को उद्वेलित करते रहते हैं, तो हमारा चिन्तन उससे विकृत ही होगा। दार्शनिक चिंतन की विशालता और उसका आनन्द उपलब्ध करने के लिए क्या हमें दर्शन को साधन-रूप नहीं अपनाना होगा?

हम वहुत शिकायत सुनते हैं कि दार्शनिक मत-मतान्तरों के अध्ययन से वुद्धि भ्रमित हो जाती है। यह संभव है, परन्तु ऐसा होना नहीं चाहिए। वस्तुतः प्रायः सभी भारतीय दर्शन जीवन की समग्रता को सुदृढ़ वनाये रखते हैं। वे जीवन को ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्षों में वांट नहीं देते। यहां दार्शनिक जिज्ञासा और ज्ञान का उद्देश्य सदा जीवन-विकास रहा है। सव दर्शनों का ध्येय जीवन की पूर्णता किंवा आध्यात्मिक स्थिति की उपलब्धि है। पश्चिम के लिए एक समय यह आक्षेपजनक था। आज का सांस्कृतिक संकट इसकी सत्यता को प्रमाणित कर रहा है। भारतीय दर्शन में ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्ष संग-संग रहे हैं। दूसरे अर्थों में,

दर्शन और योग एक-दूसरे से सम्बद्ध रहे हैं। यह अनिवार्य भी है। ज्ञान जीवन का पथ-प्रदर्शक प्रकाश है, पर जीवन आगे बढ़ेगा तो उसे और आगे का ज्ञान प्राप्त होगा। यदि मेरी इन्द्रियां और भावावेग तुच्छ उपभोगों में आसक्त हैं, तो मेरी बुद्धि आखिर कहांतक विशालता में उड़ान ले सकेगी? और उस उड़ान में कितनी सच्ची जिज्ञासा होगी?

यदि दार्शनिक चिंतन के साथ-साथ समग्र जीवन का उचित विकास होगा, तो बुद्धि भ्रमित नहीं होगी। वहां तो सुन्दर और निश्चयात्मक ज्ञान का विकास दिखाई देगा। परन्तु दार्शनिक पोथियों का पठन-पाठन तो प्रधान उद्देश्य हो, चिंतन भी कम हो और यथार्थ दार्शनिक जीवन-जिज्ञासा हो नहीं, तब सम्मतियों के जंगल में मनुष्य-जीवन का सामान्य रास्ता भी खो जा सकता है।

दर्शन वास्तव में एक सजग जिज्ञासा है। वैसे कोई भी ज्ञान का क्षेत्र तत्सम्बन्धी जिज्ञासा की अपेक्षा रखता है। बिना जिज्ञासा के ज्ञानोपलब्धि नहीं होती। परन्तु दर्शन विशेष रूप से जिज्ञासा की अपेक्षा करता है। इसके विषय, अन्तिम सत्य और अन्तिम सत्ता, अपने स्वरूप से ही, बिना सजग जिज्ञासा के, कल्पना से भी ग्राह्य नहीं होंगे। सजग जिज्ञासा होने पर मनुष्य जिज्ञासा के सहारे दार्शनिक भाव में सहज ही विकसित हो सकता है। उसके लिए दार्शनिक साहित्य, पूर्व का तथा पश्चिम का, सब उपयोगी साधन बन जायगा। जिज्ञासा विनम्र हो, परन्तु आत्मविश्वास से पूर्ण अथवा आत्मविश्वास की अभीप्सावाली हो।

उपनिषदों में कैसा उदार, स्वतंत्र, जिज्ञासापूर्ण विचार, चिंतन और अनुभव का वातावरण मिलता है। उपनिषदों के बाद भी अनेक बार दार्शनिक भावना का सुन्दर, उज्ज्वल स्वरूप हमें अपने इतिहास में देखने को मिलता है, परन्तु उपनिषद इस सम्बन्ध में अद्भुत रूप में आनन्ददायक हैं।

अब, जबकि भारत अपने स्वभाव और प्रतिभा को स्वतंत्रतापूर्वक पुनः विकसित करना चाह रहा है, दार्शनिक भाव-भावना की दृष्टि से

उपनिषद् हमारे लिए विशेष दृष्टान्त रूप से उपस्थित होते हैं। उसमें भी प्रिय है उनकी भावना, वातावरण, उनकी जिज्ञासा, उनका स्वातन्त्र्य, आत्मविश्वास, सत्य-प्रेम आदि।

वरुण ऋषि का पुत्र भृगु अपने पिता से निवेदन करता, है "अधीहि भगवो ब्रह्मेति भगवन्", मुझे ब्रह्म के विषय में शिक्षा दें। वरुण उत्तर देते हैं, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्न-भिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्ममेति। सः तपोऽतप्यत।" जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं और जिसमें जाकर प्रवेश करते हैं, उसे जानने की जिज्ञासा कर, वही ब्रह्म है!" तब भृगु ने तप किया।

अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द सत्ता के पांच स्तरों के संबंध में बारी-बारी से वरुण कहते हैं, "ये सब ब्रह्म हैं, इनको तू ब्रह्म-रूप जानने की जिज्ञासा कर (तद्विजिज्ञासस्व)! तू इन्हें ब्रह्म-रूप जान और इन्हें ऐसा जानने की जिज्ञासा कर!" यह अत्यंत सुंदर तथा महत्त्वपूर्ण अंतर है। वरुण भृगु की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। वह उसपर अपना मत लादते नहीं, बल्कि जानने की जिज्ञासा प्रेरित करते हैं और उस ज्ञानो-पलब्धि के लिए भृगु तप करता है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द-विषयक यथार्थ ज्ञान के लिए वह पुनः तप करता है। चित्त को एकाग्र करता है, जीवन मात्र की साधना करता है। तप के बिना ज्ञान मानो है ही नहीं।

एक और जगत् जिज्ञासा का स्वरूप है, "सत्यं भगवो विजिज्ञासम", मैं सत्य को जानना चाहता हूं।

उपनिषदों के सिद्धान्तों से यहां हमारा प्रयोजन नहीं, बल्कि उनकी भावना से है। इस भावना में कितनी गम्भीर जिज्ञासा है! यह जिज्ञासा ही वास्तव में दार्शनिक खोज का मौलिक तत्त्व है। यह यदि शुद्ध हो, तो दार्शनिक उपलब्धि आनन्ददायक होगी ही।

एक और प्रसंग में गुरु और शिष्य दोनों मिलकर अभीप्सा करते हैं

कि हमारा इकट्ठा यश हो, हमारा इकट्ठा ब्रह्मतेज बढ़े।

और जनक की बुलाई ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में ब्रह्मवेत्ताओं के सम्बन्ध कितने सुन्दर दिखाई देते हैं! याज्ञवल्क्य के प्रति कैसा आदर का भाव है! गार्गी कैसी अद्भुत दृष्टि और भावनावाली है और सारी सभा में कितना ऊंचा उसका स्थान है!

अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जो उपनिषदों की अद्भुत भावनाओं—सत्य, उदारता तथा गम्भीर प्रेम—को हमारे सामने उपस्थित करते हैं और ये भावनाएं हमारे नये दार्शनिक उत्थान के लिए कैसा अपूर्व पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं!

३ : : नवीन भारत और दर्शन

दर्शन का विषय हम समग्र सत्य और सत्ता कहते आये हैं, परन्तु इन्हींके अंतर्गत जीवन के सभी क्षेत्र आ जाते हैं। भारतीय ज्ञान की एक मौलिक दृष्टि यहां स्मरणीय है। नाट्यशास्त्र अपने अभीष्ट क्रियात्मक विषय का विवेचन करने के साथ-साथ अपनी सारी विद्या का ब्रह्म के साथ भी सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता मानेगा। व्याकरण के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने-आपको अन्तिम सत्ता में प्रतिष्ठित करे। यह एक विलक्षण दृष्टिकोण है। निश्चय ही जीवन की हरएक गतिविधि, जीवन का हरकोई क्षेत्र, वह कितना भी व्यावहारिक क्यों न हो, समग्र अन्तिम सत्य में आधारित तथा प्रतिष्ठित है और जब हम किसी गति-विधि तथा क्षेत्र को यहां प्रतिष्ठित देखते हैं, समग्र सत्य में उसकी स्थिति और स्वरूप को देखते हैं, तभी हम उसके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

आज भारत अपने इतिहासमात्र का एक विशेष महान् कार्य कर रहा है। लम्बे समय के बाद आत्म-सजग रूप से अपने जीवन को नव सृष्ट कर रहा है। आज मानो उसका प्राचीन इतिहास उसे देख रहा है और उसकी भविष्यमात्र की विशाल जातीय भवितव्यता देख रही है। आज भारत ऐसी स्थिति में है। यह स्थिति और इसका अनेक-विध सृजन

सब भारतीय दर्शन के हाथ में है। भारतीय मानव जैसे दार्शनिक भाववाला व्यक्ति कब अपने जीवन के थोड़े-बहुत स्थूल परिवर्तन से ही संतुष्ट होने जा सकता है ? और ऊपर-ऊपर की लीपापोती उसे क्या प्रसन्न करेगी ? सजग दर्शन ही भारतीय मानव की दार्शनिक भावना को तृप्त कर सकता है। दर्शन के उदार, विशाल, समग्र सत्य और सत्ता के-से उदार और विशाल भाव में सारे जीवन को नव-सृष्ट करना होगा। भारतीय जीवन के सामने आज अनेक विशेष महत्त्वपूर्ण प्रश्न मौजूद हैं। भारत के राष्ट्रीय मानस का नवीन और सच्चा स्वरूप क्या है अथवा होना चाहिए, व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्ध कैसे निर्धारित हों, विशिष्ट समाजों और राष्ट्र के आंतरिक सम्बन्ध, भारत और जगत् के सम्बन्ध, विज्ञान और उद्योगीकरण और भारतीय संस्कृति, आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता, सर्वधर्म-समन्वय और नवीन जीवन, राज्य, सत्ता और नैतिक जीवन, और वास्तविक जीवन-विकास, भारत से आध्यात्मिक देन की मांग और भारतीय जीवन की सच्ची भवितव्यता, आदि-आदि अनगिनत प्रश्न, दुविधाएं और संकट हमारे सामने प्रस्तुत हैं। क्या इनका समाधान विना गंभीर शुद्ध विचार के, विना सत्य-दृष्टि के ही किया जा सकता है ?

यही है आज भारतीय दर्शन का महान् और विशाल उत्तरदायित्व। राजा राममोहन राय के समय से लेकर इन प्रश्नों पर कुछ चिंतन बराबर होता रहा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय दर्शन ने सजग रूप से इस कर्त्तव्य को पहचाना हो और इसे निभाने की कोशिश की हो। चिन्तन जितना हुआ है, वह अधिकांश में समाज-सुधार से प्रेरित होकर हुआ है अथवा राजनैतिक स्वाधीनता से अनुप्राणित होकर हुआ है। शुद्ध दार्शनिक भाव और भावना के चिन्तन, सत्य और सत्ता में प्रतिष्ठित चिंतन का राष्ट्रीय प्रवाह अभी चलना है।

४ : : श्रीअरविन्द का दृष्टान्त

वैयक्तिक दृष्टांत के रूप में श्रीअरविन्द ने इस कार्य को अपनाया

था। सत्य और सत्ता की दृष्टि से तथा भारतीय दर्शन के सृजनशील प्रवाह के रूप में उन्होंने भारतीय जीवन के वैयक्तिक निर्माण और शिक्षा, समाज-निर्माण तथा राष्ट्रीय विकास, मानव-एकता, भारतीय भवितव्यता, साहित्य, कला आदि प्रश्नों पर एक मौलिक दृष्टि ही प्रस्तुत नहीं की, वल्कि भारतीय दर्शन की क्रियात्मक परम्परा के अनुरूप इन आदेशों को अपनी आश्रम-प्रयोगशाला में चरितार्थ करने का भी यत्न किया। वहींपर वर्तमान जीवन के अन्य प्रश्नों पर भी परीक्षण करना स्वीकार किया। मशीन और संस्कृति, कर्म और ध्यान, देश-विदेश के संवंध, मानव और भाषा, व्यवसाय, उद्योग और जीवन-विकास आदि-आदि अनेक प्रश्नों को गम्भीर दार्शनिक विचार और परीक्षा का विषय वनाकर उनपर सत्य-दृष्टि निर्माण करने का यत्न किया।

इस दृष्टांत द्वारा भारतीय दर्शन ने वर्तमान दर्शनमात्र के लिए एक नये आदर्श को विस्तृत किया है। वह है सर्वांगीण ज्ञान (इण्टीग्रल नॉलिज), सर्वांगीण संस्कृति (इण्टीग्रल कल्चर) और सर्वांगीण व्यक्तित्व (इण्टीग्रल पर्सनैलिटी) का आदर्श। इन सवमें केन्द्रीय विचार है अतिमानस की सर्वांगीण चेतना (इण्टीग्रल कांशसनैस) का। मन वहिर्मुख है और खण्ड भाववाला है। अतिमानस अन्तर्मुख, स्वयं-सत्, एकीकृत चेतना है और यह अन्न, प्राण और मन के विकास-क्रम में अन्न, प्राण और मन की श्रेणी का ही एक आगामीकरण है। आज ज्ञान, संस्कृति, व्यक्तित्व सव मन के खण्डमय मानदण्डों के अनुरूप कल्पित किये जाते हैं। भारतीय दर्शन का यह नया संदेश है कि अतिमानस हमारे सामने अद्भुत एकत्व का दर्शन प्रस्तुत करता है, मानो जीवन-प्रवाह आज हमें जागतिक संस्कृति, समग्रतापूर्ण ज्ञान तथा एक विशालतर सर्वांगीण व्यक्तित्व-विकास की ओर प्रेरित तथा प्रचालित कर रहा है। दार्शनिक वादों, धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक विशिष्टताओं आदि सभी विविधताओं और विभेदों को एक विशालतर एकीकृत चेतना के आसन से देखने की आवश्यकता है। आज के समृद्ध तथा भेदपूर्ण जीवन और जगत् का आध्यात्मिक-बौद्धिक-सामा-

जिक राजनैतिक एकीकरण हमारा प्रश्न है और यही प्राचीन भारतीय दर्शन का नवीन संदेश है।

यहां हम श्रीअरविन्द के कुछ अपने शब्दों को स्मरण कर सकते हैं। वह कहते हैं, "वस्तुओं को स्थिर रूप से तथा उनको समग्र भाव से देखना मन के लिए सम्भव नहीं, परन्तु परात्पर अतिमानस का तो यह अपना स्वभाव ही है।"[१]

पुनः एक वचन है, "एकता में विभिन्नता व्यक्त जगत् का नियम है, अतिमानस एकीकरण तथा संगठन इन विभिन्नताओं को समस्वरता में लायेगा, क्योंकि इन्हें मिटा देना प्रवृत्ति-निहित आत्मतत्त्व का आशय नहीं है।"[२] इसी सत्य को एक और वचन खोलकर रख देता है, "विभिन्नता तथा विरोध में निहित एकता मानव-धर्मों और दर्शनों की विविधता का रहस्य है, क्योंकि वे सभी उस एकमेव सत्य के किसी प्रतीक तथा किसी गौण भाव को प्राप्त करते हैं, अथवा किसी भाग का स्पर्श करते हैं, या उसके अनन्त स्वरूपों में से किसीको देख पाते हैं।"[३]

दर्शन तथा बौद्धिक जिज्ञासा का मानव-विकास में क्या स्थान तथा महत्त्व है, इस सम्बन्ध का एक कथन भारतीय दार्शनिक विकास के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हो सकता है। वह कहते हैं :

"उच्चतम ज्ञान की ओर बौद्धिक प्रवृत्ति एवं मन द्वारा उसकी प्राप्ति मानव-सत्ता में 'प्रकृति' की इस (विकासात्मक) क्रिया का एक अनिवार्य सहायक है। साधारणतया ऊपरी तल पर मनुष्य में विचार और कर्म का प्रमुख यन्त्र तर्क-बुद्धि अर्थात् निरीक्षण करनेवाली, समझने और क्रम-बद्ध करनेवाली बुद्धि है। आत्मा की किसी भी संपूर्ण प्रगति या विकास में अंतःस्फुरता, आंतर्दृष्टि, आंतरिक बोध, हृदय की भक्ति, आत्मा की वस्तुओं की गहरी और सीधी जीवन-अनुभूति को ही विकसित नहीं करना है, वरन् बुद्धि को भी आलोकित और सन्तुष्ट करना है। हमारे विचारक

१-२-३. 'दी लाइफ डिवाइन' भाग १ और २. १९३९-४०. पृ० २०५-९०७-६१७

और तर्कशील मन को, हमारी प्रकृति के इस उच्चतम विकास और क्रिया के लक्ष्य, ढंग और सिद्धांतों को तथा उस सबके सत्य को, जो इसके पीछे स्थित है, समझने और उनके विषय में एक युक्ति-संगत और व्यवस्थित विचार बनाने में सहायता दी जानी चाहिए। आध्यात्मिक उपलब्धि और अनुभूति, एक अन्तःस्फुरित और साक्षात् ज्ञान, आंतरिक चेतना की तथा आत्मा और एक घनिष्ठ आत्म-बोध की उन्नति एवं आत्मदृष्टि तथा आत्मिक अनुभूति ही इस विकास के उचित साधन हैं; किन्तु साथ ही चिन्तनशील और समीक्षक तर्क-बुद्धि की सहायता भी बड़ा महत्त्व रखती है, यद्यपि कुछ लोग इसके बिना काम चला सकते हैं, क्योंकि उनका आन्तरिक वास्तविकताओं के साथ स्पष्ट और सीधा सम्पर्क है तथा वे अपनी अनुभूति और अंतर्दृष्टि से सन्तुष्ट हैं, तो भी समस्त क्रिया-चक्र में इसका होना अनिवार्य है। यदि सर्वोच्च सत्य एक आध्यात्मिक सद्वस्तु है तो मनुष्य की बुद्धि के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस मूल 'सत्य' का स्वभाव क्या है, साथ ही इसके शेष सत्ता के साथ, हमारे और विश्व के साथ संबंधों का सिद्धांत क्या है? बुद्धि अपने-आपमें आध्यात्मिक सद्वस्तु के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित करने में समर्थ नहीं है, किन्तु वह 'आत्मा' के सत्य के विषय में मानसिक रचना बनाकर हमारी सहायता कर सकती है। यह रचना मन के समक्ष इस 'सत्ता' की व्याख्या करती है तथा अधिक सीधी खोज में भी प्रयुक्त की जा सकती है। बुद्धि की इस सहायता का बड़ा भारी महत्त्व है।

यहां यह भी कह देना होगा कि आध्यात्मिक अनुभव पर बुद्धि का आलोचनात्मक नियंत्रण एक बाधा हो सकता है तथा उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह एक निम्न प्रकार का आलोक है जो उच्चतर प्रकाश के क्षेत्र पर प्रक्षिप्त किया जाता है। सच्ची नियन्त्रक शक्ति, एक आंतरिक विवेक, एक आन्तरात्मिक बोध एवं कौशल, ऊपर से एक उच्च हस्तक्षेप अथवा एक स्वाभाविक और प्रकाशपूर्ण आंतरिक पथ-प्रदर्शन है। किन्तु फिर भी यह विकास की दिशा आवश्यक है, कारण,

आत्मा और तर्क-बुद्धि के मध्य में एक सेतु होना ही चाहिए। एक आध्यात्मिक बुद्धि, या कम-से-कम एक अध्यातमीकृत बुद्धि का प्रकाश, हमारे सम्पूर्ण आंतरिक विकास-क्रम की पूर्णता के लिए आवश्यक है, और उनके विना, यदि अन्य गहनतर पथ-प्रदर्शन भी नहीं है, तो आंतरिक क्रिया भ्रान्त और अनुशासनहीन, गंदली तथा अनाध्यात्मिक तत्त्वों से मिश्रित और अपनी उदारता में एकपक्षीय या अपूर्ण हो सकती है। 'अज्ञान' के 'समग्र ज्ञान' में रूपान्तर के लिए हमारे अन्दर एक ऐसी आध्यात्मिक बुद्धि का विकास, जो उच्चतर प्रकाश को ग्रहण करने के लिए तैयार हो तथा जो उसका संचार हमारी प्रकृति के समस्त भागों की ओर कर सकती हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है।"[१]

इस सम्वन्ध में हम स्मरण कर सकते हैं कि भारत में धर्म और दर्शन में अद्‌भुत मैत्री रही है। धर्म दार्शनिक चिंतन को अपनाकर सजग और सचेतन वना और दर्शन, धर्म और योग को अपनाकर सजीव और जीवन-प्रद वना। भारतीय जनता के धार्मिक भाव का दर्शन-भाग पिछले काफी लंवे समय में सो-सा गया था। सारा भारतीय जीवन ही रूढ़िगत हो गया था। तव दर्शन कैसे सजग-सचेतन रहता? आज अवश्य ही, जनता के व्यापक सृजनशील भाव में तथा इसे और विकसित करने के साधन के रूप में धर्म के दर्शन-भाग को जगाना चाहिए, और यदि ऐसा किया जाय तो इससे धर्म तो अनुप्राणित होगा ही, समूचा जीवन भी अनुप्राणित होगा। कितना ही दार्शनिक भाव इस क्षेत्र में अर्द्ध-जाग्रत रूप में मौजूद है। इसके जागने से राष्ट्र-मात्र में अद्‌भुत दार्शनिक भाव का उदय हो सकता है।

---

१. 'दी लाइफ डिवाइन', भाग २. १९४० (अध्याय : दी इवोल्यूशन आफ दी स्प्रिच्युअल मैन)-पृष्ठ ८९०-१-८९४

३

श्रीअरविन्द : विश्व-दार्शनिक

जैसे-जैसे विश्व एक आत्म-चैतन्य इकाई होने की दिशा में अग्रसर होता जा रहा है और वाणिज्य, विज्ञान, साहित्य एवं सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में अपना एकनिजी स्वरूप विकसित करने लगा है, विश्व-दर्शन का प्रश्न अधिकाधिक प्रबल तथा महत्त्वपूर्ण होने लगा है। किन्तु वस्तुतः हम विश्व-दर्शन कहते किसे हैं ? क्या दर्शन सदैव सार्वभौम नहीं रहा है ? निःसंदेह यह वैसा ही रहा है। भौतिक विज्ञान की विषय-सामग्री एक सार्वभौम वस्तु है तथा वैसे ही उसके नियम भी। इस प्रकार, यूनान अथवा भारत, चीन अथवा आधुनिक यूरोप या अमेरिका के दार्शनिकों ने एक ही जीवन तथा सत्ता पर प्रकाश डाला है, और सत्य के प्रतिनिधि-स्वरूप इस विषय में उनके उत्तर अवश्य ही सार्वभौम महत्त्व रखते हैं। किसी एक देश अथवा सांस्कृतिक युग के उन छात्रों का भी, जो दूसरे देश या सांस्कृतिक युग के दर्शन को समझने का प्रयास कर रहे हैं, अनुभव यही प्रमाणित करता है। भारतीय छात्र तथा अध्येता यूनानी दार्शनिकों के अध्ययन का मूल्यांकन करने और उनसे लाभ उठाने लगे हैं तथा पश्चिमी विद्यार्थी भी चीन तथा भारत के विचार का मूल्यांकन करने एवं लाभ उठाने लगे हैं।

फिर भी यूनान, भारत, चीन एवं आधुनिक पश्चिमी जगत् के दर्शनों में प्रबल विभेदात्मक विशेषताएं हैं। निःसन्देह, वे सभी एक ही जीवन तथा अस्तित्व का विवेचन करते हैं, किन्तु जीवन तथा अस्तित्व जटिल, विशाल एवं परिवर्तनशील है और इसीलिए दर्शन भी विभिन्न तथा

आत्मा और तर्क-बुद्धि के मध्य में एक सेतु होना ही चाहिए। एक आध्यात्मिक बुद्धि, या कम-से-कम एक अध्यात्मीकृत बुद्धि का प्रकाश, हमारे सम्पूर्ण आंतरिक विकास-क्रम की पूर्णता के लिए आवश्यक है, और उनके विना, यदि अन्य गहनतर पथ-प्रदर्शन भी नहीं है, तो आंतरिक क्रिया भ्रान्त और अनुशासनहीन, गंदली तथा अनाध्यात्मिक तत्त्वों से मिश्रित और अपनी उदारता में एकपक्षीय या अपूर्ण हो सकती है। 'अज्ञान' के 'समग्र ज्ञान' में रूपान्तर के लिए हमारे अन्दर एक ऐसी आध्यात्मिक बुद्धि का विकास, जो उच्चतर प्रकाश को ग्रहण करने के लिए तैयार हो तथा जो उसका संचार हमारी प्रकृति के समस्त भागों की ओर कर सकती हो, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती आवश्यकता है।"[१]

इस सम्बन्ध में हम स्मरण कर सकते हैं कि भारत में धर्म और दर्शन में अद्‌भुत मैत्री रही है। धर्म दार्शनिक चिंतन को अपनाकर सजग और सचेतन वना और दर्शन, धर्म और योग को अपनाकर सजीव और जीवन-प्रद वना। भारतीय जनता के धार्मिक भाव का दर्शन-भाग पिछले काफी लंवे समय में सो-सा गया था। सारा भारतीय जीवन ही रूढ़िगत हो गया था। तव दर्शन कैसे सजग-सचेतन रहता? आज अवश्य ही, जनता के व्यापक सृजनशील भाव में तथा इसे और विकसित करने के साधन के रूप में धर्म के दर्शन-भाग को जगाना चाहिए, और यदि ऐसा किया जाय तो इससे धर्म तो अनुप्राणित होगा ही, समूचा जीवन भी अनुप्राणित होगा। कितना ही दार्शनिक भाव इस क्षेत्र में अर्द्ध-जाग्रत रूप में मौजूद है। इसके जागने से राष्ट्र-मात्र में अद्‌भुत दार्शनिक भाव का उदय हो सकता है।

---

१. 'दी लाइफ डिवाइन', भाग २. १९४० (अध्याय: दी इवोल्यूशन आफ दी स्प्रिच्युअल मैन)-पृष्ठ ८९०-१-८९४

३

श्रीअरविन्द : विश्व-दार्शनिक

जैसे-जैसे विश्व एक आत्म-चैतन्य इकाई होने की दिशा में अग्रसर होता जा रहा है और वाणिज्य, विज्ञान, साहित्य एवं सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में अपना एक निजी स्वरूप विकसित करने लगा है, विश्व-दर्शन का प्रश्न अधिकाधिक प्रबल तथा महत्त्वपूर्ण होने लगा है। किन्तु वस्तुतः हम विश्व-दर्शन कहते किसे हैं ? क्या दर्शन सदैव सार्वभौम नहीं रहा है ? निःसंदेह यह वैसा ही रहा है। भौतिक विज्ञान की विषय-सामग्री एक सार्वभौम वस्तु है तथा वैसे ही उसके नियम भी। इस प्रकार, यूनान अथवा भारत, चीन अथवा आधुनिक यूरोप या अमेरिका के दार्शनिकों ने एक ही जीवन तथा सत्ता पर प्रकाश डाला है, और सत्य के प्रतिनिधि-स्वरूप इस विषय में उनके उत्तर अवश्य ही सार्वभौम महत्त्व रखते हैं। किसी एक देश अथवा सांस्कृतिक युग के उन छात्रों का भी, जो दूसरे देश या सांस्कृतिक युग के दर्शन को समझने का प्रयास कर रहे हैं, अनुभव यही प्रमाणित करता है। भारतीय छात्र तथा अध्येता यूनानी दार्शनिकों के अध्ययन का मूल्यांकन करने और उनसे लाभ उठाने लगे हैं तथा पश्चिमी विद्यार्थी भी चीन तथा भारत के विचार का मूल्यांकन करने एवं लाभ उठाने लगे हैं।

फिर भी यूनान, भारत, चीन एवं आधुनिक पश्चिमी जगत् के दर्शनों में प्रबल विभेदात्मक विशेषताएं हैं। निःसन्देह, वे सभी एक ही जीवन तथा अस्तित्व का विवेचन करते हैं, किन्तु जीवन तथा अस्तित्व जटिल, विशाल एवं परिवर्तनशील है और इसीलिए दर्शन भी विभिन्न तथा

विविध ही हैं। किसी देश या जाति की जीवनानुभूति स्वभावत: ही उसकी वाह्य परिस्थितियों, मन:स्थितियों, ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाओं एवं उसके महापुरुषों के सद्गुणों द्वारा मर्यादित तथा सीमित हो जाती है। परिणामस्वरूप जीवनानुभूति में दर्शन की समुचित विषय-सामग्री एक स्पष्ट भिन्न तथ्य बन जाती है। इसके अतिरिक्त, समान अनुभूतियों के होने पर भी प्रतिपाद्य विषय तक पहुंचने के मार्ग भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट ही एक अर्थ में इन विभिन्न देशों के दर्शनों को राष्ट्रीय या एक सांस्कृतिक क्षेत्र अथवा प्रादेशिक भूमि का मानना होगा। जो हो, सारभूत अस्तित्व तथाकथित सांस्कृतिक जीवन की समस्याओं के अंतर को परखना संभव है। यह समझना भी संभव है कि कोई दार्शनिक अपनी प्रारंभिक शिक्षा द्वारा अर्जित आचरण तथा वुद्धि के पूर्वाग्रह से वहुत ही स्वतंत्र होकर जीवन की सारभूत समस्याओं के शोध में लगे। मानव की वौद्धिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक क्षमता यहां हमारे आलोच्य विषय हैं। जहांतक ये विशुद्ध रूप से कार्य करने में सक्षम हैं, दार्शनिक सिद्धान्त अवश्य ही उच्चतम सार्वभौमता और निर्वैयक्तिकता से संपन्न हैं, किंतु इस विषय में भी अभिव्यक्ति का स्वरूप राष्ट्रीय या जातीय रीतियों द्वारा अनुशासित होगा और फलस्वरूप वहुतांश में सभी देशों के दर्शनों में सार्वभौमता सरलता से पहचानी नहीं जायगी।

अव, जवकि संसार एक आत्मचैतन्य इकाई होने की ओर अग्रसर हो रहा है, राष्ट्रीय चरित्र और अनुभूति सर्वत्र विस्तृत होती जाती है तथा दार्शनिक विश्वानुभूति को सरलतापूर्वक अपने चिन्तन का विषय वना सकता है। एक प्रकार से, ऐसा करने के लिए उसे उत्तरोत्तर वाध्य किया जा रहा है। समस्याएं, विशेपकर सांस्कृतिक जीवन की समस्याएं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस तरह से परस्पर सूत्रवद्ध हैं कि मानव-समस्याओं के रूप में सचेतनता से उनका सामना करने पर ही हम उनपर अच्छी तरह विचार कर सकते हैं। इतना ही नहीं, जीवन के वहुविध संवंधों में वढ़ते हुए सहयोग तथा एकीकरण के कारण दार्शनिक अपना सांस्कृतिक

विकास भी न्यूनाधिक रूप में विश्व-जीवन तथा संस्कृति का हिस्सेदार होकर पाता है। इसलिए भविष्य में विश्व-दर्शन का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है और इसके लिए एक सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण द्रुत गति से हो रहा है। जो भी हो, जिस आधार का निर्माण हम कर रहे हैं, यदि वह भिन्न देशों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का स्पष्टतया यथोचित ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं कर सका है, तो विश्व-दर्शन भी अपने विषय की समृद्धि एवं विविधता में अपूर्ण रह जायगा। तब हमारा विश्व-दर्शन ऐसा होगा, जो अनुभूति के केवल एक ही गुण अथवा धर्म को विशद रूप से व्यक्त कर सकेगा। विश्व-दर्शन का अर्थ व्यक्ति और संस्कृति की व्यक्तिगत विशिष्ट धारणाओं का दमन नहीं होना चाहिए, अपितु उनके विषय में हमारा अन्वेषण, मानव-अनुभूति के पूर्ण विस्तार और विविधता से एवं मानव-प्रकृति तथा परम सत्य की मूलगत एकता के स्पष्ट ज्ञान द्वारा निर्दशित होना चाहिए। इसकी सत्यता आज उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही है और इसलिए दर्शन भी एक प्रकार से स्वाभाविकतया सार्वभौम होता जा रहा है, जैसाकि पहले कभी नहीं हुआ था।

किंतु इस रूप को ग्रहण करने में दर्शन को एक विशेष कठिनाई पड़ती है। विज्ञान भौतिक घटनाओं की विवेचना करता है और इसके निर्णय की सत्यता अधिक सुगमतापूर्वक परखी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान जिस अनुभूति का प्रतिपादन करता है, वह अपेक्षाकृत सहज है और बाह्य उपादानों द्वारा परखी जा सकती है। इस क्षेत्र में सार्वभौमता की प्राप्ति को यह सह्य बना देता है। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक उपयोगिता भी इसकी खोज तथा परख में सहायता करती है। इस प्रकार विज्ञान सहज ही सार्वभौमता की दिशा में अग्रसर होता है। इसका प्रतिपाद्य विषय तथा इसकी प्रणाली, जो इसके प्रतिपाद्य विषय द्वारा निश्चित होती है, अधिक सुगमता से एकलयता प्राप्त करते हैं।

किन्तु दर्शन की बात कुछ और ही है। इसका विषय अनुभूति है, जिसका पूर्ण विस्तार एवं गांभीर्य निश्चितता तथा यथार्थता के साथ व्यक्त

नहीं किया जा सकता। वाह्य वौद्धिक घटनाओं का अनुभव, जो विज्ञान के चिंतन-विषय हैं—वौद्धिक पद्धति का अनुभव, नैतिक अनुभूति, सौंदर्यानुभूति और धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति—मनुष्य द्वारा अभिज्ञात तथा सुपरिचित अनुभूति के कतिपय स्वरूप तथा विशेषताएं हैं। इनमें कुछ ऐसे हैं, जिनके और भी कई स्तर तथा भेद हैं। उदाहरणार्थ, अध्यात्म के क्षेत्र में श्रीअरविन्द अनेक सुस्पष्ट अनुभूतियों की पहचान देते हैं, जिनमें से वह अतिमानस को विशिष्ट दार्शनिक महत्त्व का वतलाते हैं, क्योंकि इसके प्रकाश में दर्शन की कतिपय अत्यधिक कठिन तथा कभी हल न होनेवाली समस्याएं सहज तथा सुवोध प्रतीत होने लगती हैं। यदि समग्र मानव-अनुभूति में एकरूपता है, जैसीकि होनी ही चाहिए, तव इसके विभिन्न रूपों, विशेषताओं और श्रेणियों को परस्पर सम्वन्धित तथा सूत्रवद्ध करना अवश्य ही संभव है और यदि इस प्रकार की व्यापक दृष्टि का विकास किया जाय, तो विश्व-दर्शन अपनी प्रथम भूमिका पा लेगा और तव यह मानव-आत्मा की क्रियात्मक खोज वनने लगेगा। आज हमारे सामने एक ही देश तथा सांस्कृतिक जीवन के अंतर्गत अनेक दर्शन हैं और हम उन सभी को एक-दूसरे के साथ संवद्ध नहीं कर सकते तथा जीवन में ठीक-ठीक प्रस्थापित भी नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य की समग्र अनुभूति का हमें कोई वोध नहीं। यदि हमें इस प्रकार की अनुभूति होती, तो वैज्ञानिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक, धार्मिक और सभी श्रेणियों की आध्यात्मिक अनुभूतियां उसी समग्रता में देखी और समझी जा सकती थीं। इससे उन एकांतिक दर्शनों के विकास को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, जिनकी प्रवृत्ति असंवद्ध होने की रहती है।

अवतक हम मुख्यतया उक्त विश्व-दर्शन की धारणा, मानवता की वर्तमान परिस्थितियों में इसका अवश्यंभावी विकास तथा मनुष्य की समग्र अनुभूति का इसकी प्रथम भूमिका के रूप में विचार करते रहे हैं, किन्तु यदि विश्व-दर्शन का प्रारम्भ समुचित ढंग से हो तथा यदि यह एक प्रवृत्ति एवं जीवन्त परंपरा का रूप लेना चाहे, तो इसे किसी

दार्शनिक-विशेष के मन तथा आत्मा में सर्वप्रथम उद्भूत होना होगा। यह भी हो चुका है। विश्व-दर्शन का समारंभ हो चुका है तथा द्रुत गति से यह एक प्रवृत्ति का रूप ले रहा है और कम-से-कम एक दार्शनिक, जिनके मन तथा अंतरात्मा में यह उद्भूत हुई, तथा जिसे उन्होंने जन्म दिया, वह हैं श्रीअरविन्द।

एक विश्व-दर्शन को आकार प्रदान करनेवाले के रूप में श्रीअरविंद को समझने के लिए हमें उनके व्यक्तित्व से भली-भांति अवगत होना तथा उनके दर्शन पर भी विचार करना होगा; क्योंकि उनके व्यक्तित्व में प्राच्य तथा पाश्चात्य प्रभावों का समृद्ध एवं प्रचुर सम्मिश्रण था। वाल्यावस्था से ही उनकी शिक्षा इंग्लैंड में हुई। उन्होंने ग्रीक तथा लैटिन भाषा का अध्ययन किया, प्राचीन भाषाओं की गहराई में उतरे एवं आधुनिक यूरोपीय जीवन तथा संस्कृति को समझने और उनका उचित मूल्यांकन करने का प्रयास किया। उनमें आध्यात्मिक जीवन के प्रति एक प्रवल प्रवृत्ति थी तथा इसकी भावनाएं भी उनमें थीं। इस प्रकार, उनके व्यक्तित्व के निर्माण में पूर्व और पश्चिम दोनों का आत्यंतिक सौहार्दपूर्ण हाथ रहा। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में उन्होंने पहले से ही देख लिया कि मानवता में महान् परिवर्तन आनेवाले हैं और उन्होंने ऐसा अनुभव किया मानो उन्हें स्वयं उनके लिए तैयार होने का आह्वान है। यह मूलगत परिवर्तन, जिसका उन्हें पूर्वज्ञान था, मूल्यों का मौलिक पुनर्मूल्यांकन, हमारी सभ्यता का घोर संक्रमण तथा एक नई सभ्यता का अभ्युदय, भौतिकवाद का विनाश और आत्मा के तात्त्विक मूल्यों का अरुणोदय था। विगत कई दशकों में उन्नीसवीं सदी के भौतिकवाद का परित्याग और इतिहास तथा प्रकृति की व्याख्या के रूप में गतिशील शक्तिवाद की सापेक्षिक सफलता देखी गई है। जीवन तथा साहित्य में भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि की सतत वृद्धि हुई है किंतु श्रीअरविन्द ने भौतिकवाद के आधिपत्य-जनित संक्रमण के गर्भ से आध्यात्मिक विचार-विन्दु के आविर्भाव की आवश्यकता देखी थी। तव उनका निजी आध्यात्मिक विचार-

विन्दु जीवन और जगत् से बहिष्कृत नहीं, अपितु उनके अन्तर्गत था। 'अध्यात्म' शब्द उनके लिए वस्तुतः मन के, जो वर्तमान मानव-जीवन का सामान्य स्तर था, पश्चात् आवश्यक तौर पर प्रकट होनेवाली विवर्तन-कारी प्रगति का नाम था। अतएव अध्यात्म की खोज तथा उपलब्धि उनके लिए मानवता का आह्वान तथा उसकी सभ्यता की समस्त बुराइयों का एकमात्र उपयुक्त समाधान वन गई। कालक्रम से यह आह्वान अति प्रवल एवं दुर्दमनीय हो गया और उन्होंने अपने को सक्रिय जीवन से अवकाश लेकर आत्मा की गहराइयों की खोज में पूरी तरह से लगा दिया। इस खोज के द्वारा उन्हें एक अपूर्व अनुभूति हुई—सर्वैकता की, समृद्ध एवं वहुविध पूर्णता की, एक में स्थित अनेक की, अतिमानसिक चेतना की अनुभूति और यह अनुभूति अपनी परम सुस्पष्टता एवं सत्यता के कारण जीवन के लिए उनका मौलिकतम उद्देश्य हो गई तथा यह उनके हाथों में मानव की विभिन्न अनुभूतियों के संयोजन और एकीकरण की महान् शक्ति सिद्ध हुई। समग्र अनुभूति, समग्र व्यक्तित्व और समग्र वास्तविकता—ये उनकी अनोखी अनुभूति के तीन व्यापक परिणाम थे और जव एक दीर्घकालीन आंतरिक अन्वेषण तथा विकास के वाद ये सभी पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हुए तव वह अपने व्यावहारिक-आध्यात्मिक कार्य के द्वारा वृहत्तर जीवन में उनकी उपलब्धि के लिए प्रवृत्त हुए। उनके विचार भी उन्हीं मौलिक धारणाओं पर निर्मित थे और इससे यह सिद्ध होता है कि इन विचारों की व्यापक योजनाओं के द्वारा परस्पर भिन्न तथा विरोधी विचार भी एक-दूसरे के पूरक रूप में जाने तथा माने जा सकते हैं।[1]

---

१. (क) "वस्तुओं का ठीक-ठीक तथा पूर्णतया मूल्यांकन करना मन के लिए असंभव है; किन्तु यह तो परात्पर अतिमानस का स्वभाव ही है।" (दिव्य जीवन)

(ख) "अतिमानस अपने मूल में एक एकात्मक, समग्रतापरक तथा सामंजस्यात्मक चेतना है।" (वही)

पूर्ण व्यक्तित्व के बारे में : (शेष पृष्ठ १०३ पर)

उपर्युक्त तीन मौलिक विचारों में पूर्ण व्यक्तित्व का स्थान व्यवस्था-क्रम से प्रथम है। इसीपर पूर्ण अनुभूति की धारणा अवलंवित है और पूर्ण अनुभूति पर पूर्ण सद्वस्तु का ज्ञान आश्रित है। श्रीअरविन्द ने पूर्ण व्यक्तित्व के ज्ञान की खोज की और उसका संतोषप्रद ज्ञान प्राप्त कर उसके मुख्य अंगों का विस्तारपूर्वक एक मानचित्र प्रस्तुत किया। ये अंग हैं शरीर, प्राण, मन और आत्मा। इनमें से प्रत्येक के अनुभव का एक विशिष्ट स्तर है, जिनकी मूल्यों की दृष्टि से अपनी निजी पद्धति है। एक के वाद एक वे चेतन, अवचेतन और अतिचेतन के स्तरों की चर्चा करते हैं। सचेतन सामान्य अनुभूति का स्तर है, जो वौद्धिक विचार तथा अनात्मा के विरुद्ध स्थित आत्मा की क्रिया से संवद्ध है। अवचेतन प्रधानतया अहंजनित आवेगों का विश्रृंखल लोक है, और एक मूलगत समग्रता अतिचेतन की विशेषता है। श्रीअरविन्द इसमें अनेक स्तरों के

(क) "हम केवल उतना ही नही हैं, जितना कि हम अपने बारे में जानते हैं, अपितु उससे वहुत ही अधिक वह भाग है, जिसे कि हम जानते ही नहीं। हमारा क्षणिक व्यक्तित्व तो हमारे सत्ता के सागर से उठनेवाला वुलवुला मात्र है।" (दिव्य जीवन)

(ख) "इस तरह यदि हमारा आत्मज्ञान अपने सभी तत्त्वों में परिपूर्ण बना दिया जाय, तो हमारी व्यावहारिक अज्ञानता, जो अपनी चरमता में दुष्कर्म, दुःख, असत्य, भ्रम का रूप ले लेती है और जो जीवन में सभी प्रकार की गड़बड़ी तथा कलह का कारण है, आत्मज्ञान के सत्य संकल्प को स्थान देगी और इसके मिथ्या अथवा अपूर्ण महत्त्व चित्शक्ति तथा आनन्द के दिव्य मूल्यों के प्रकट होने पर दूर हट जायंगे।" (वही)

पूर्ण सद्वस्तु के प्रति :

(क) "सभी समस्याएं मूलतः सामंजस्य की ही समस्याएं हैं। हल न हुए कलह तथा अप्राप्त समझौते, अथवा एकता की प्रवृत्ति की धारणा से इनका उद्भव होता है।" (वही)

(ख) "जब हम पूर्ण ज्ञान की चर्चा करते हैं, तो एक पूर्ण सत्य का अस्तित्व मानकर।" (वही)

होने की चर्चा करते हैं तथा उन्हें समग्रता के क्रमिक विकास की मात्रा से युक्त बतलाते हैं, जिनमें से केवल अतिमानस ही पूर्ण परिपूर्णता में युक्त है।

शरीर, प्राण, मन और आत्मा मानव-व्यक्तित्व के चार प्रमुख भाग हैं; सचेतन, अवचेतन और अतिचेतन इसके सचेतन अस्तित्व के तीन प्रधान क्षेत्र हैं। व्यक्तिगत, विश्वगत तथा परात्पर ये तीन दार्शनिक शब्द हैं, जो मनुष्य के व्यक्तिगत तथा साथ ही पूर्ण सत्य के संबंध में भी लागू होते हैं, जिन्हें श्रीअरविन्द इन क्षेत्रों की व्याख्या के लिए व्यवहृत करते हैं। मानव-व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं : व्यक्तिगत, विश्वगत तथा विश्वातीत। व्यक्तित्व में जो सचेतन तत्त्व है वह है सामान्य 'अहं' का व्यक्तित्व। मनुष्य में प्रच्छन्न स्तर एक अतिरिक्त क्षेत्र है, जिसके द्वारा व्यक्तिगत चेतना विश्वगत चेतना में भाग लेती है तथा जो उसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव कराता है। अतिचेतन उसके अंदर का परात्पर तत्त्व है।[1]

अब, यदि हम मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न भागों तथा उत्तरों के स्पष्ट अनुभवों का उचित मूल्यांकन कर सकें और तब व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के विभिन्न दर्शनों को समझने का प्रयास करें, तो हमें कुछ सुस्पष्ट बोध प्राप्त होगा। उदाहरणार्थ, आधुनिक यूरोप का दर्शन मूलतः "वस्तुओं का विचारात्मक चिंतन है।" सत्य का दर्शन पाने के लिए यह तर्क पर विश्वास करता है। यह स्पष्ट है कि बौद्धिक प्रणाली का स्वरूप, भाषा से इसका सम्बन्ध और बुद्धि पर प्रवृत्ति की अचेतन क्रिया की संभावना सत्य को अपने बोध के सांचे में ढाल देगी और यह सत्य का प्रतिनिधि ज्ञान होगा, न कि इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति। ऐसा दर्शन 'विचारों का साहसिक कर्म' ही होगा।

---

१. (क) पूर्ण व्यक्तित्व के पूरे ब्यौरे के लिए 'दिव्य जीवन' में अध्याय एकादश देखें।
(ख) जीवन की चेतना के तीन रूपों का परस्पर सम्बन्ध है—व्यक्तिगत, विश्वगत और परात्पर या विश्वातीत।

यदि हम यह जानें किआत्मा ज्ञान का एक अपूर्व करण है और यह भी स्वीकार करें कि दर्शन वस्तुतः सत्य अथवा संपूर्ण सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, तो हमारे लिए उन दर्शनों को, जो मानसिक तथा बौद्धिक हैं, तथा वे जो मूलतः सत्य की आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित हैं, स्वीकार करना तथा उनका भेद समझना अपेक्षाकृत सरल हो जायगा। भारतीय दर्शनों की प्रायः एक आधारभूत आध्यात्मिक अनुभूति होती है। बुद्धि का स्थान यहां गौण होता है। प्रमाण, तर्क तथा समुचित व्याख्या द्वारा इस आध्यात्मिक अनुभूति को सिद्ध करना ही इसका कार्य है। 'निर्वाण' की आध्यात्मिक अनुभूति तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं के प्रवाह का एकदम रुक जाना बौद्ध दर्शन की आधारशिला है। इस दर्शन का विशाल अंग एक बौद्धिक व्याख्या है, जिसका काम मनुष्य के सामान्य मन को निर्वाण की अनुभूति तथा उसके प्रयोगों के सम्बन्ध में संतुष्ट तथा आश्वस्त करना है। उसी प्रकार एकमेव केवल ब्रह्म के सत्य की अनुभूति शंकर के अद्वैतवाद का केन्द्रीय सत्य है और इस मार्ग के दर्शन का विशाल भवन तार्किक बुद्धि द्वारा निर्मित है।

यदि हम आधुनिक पश्चिमी दर्शन के दृष्टिकोण के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लें तो हमारी सहज प्रवृत्ति भारतीय दर्शन को प्रायः दर्शन न मानने की ही होगी। हम इसमें धर्म तथा दर्शन का सम्मिश्रण पायेंगे, जो दर्शन के पाश्चात्य सैद्धांतिक विचार के विरुद्ध विद्रोह कर उठेगा, किंतु आध्यात्मिक बोध में स्वभावतः ही ज्ञान तथा संकल्प की एक महत्तर एकता सन्निहित रहती है। इसमें जो सत्य दिखलायी पड़ता है वही हमारी खोज का विषय भी प्रतीत होता है। अतः इस प्रकार के बोध पर आधारित दर्शन ऐसे दर्शन के मान-दंड से नहीं मापा जा सकेगा, जो वस्तुओं की मानसिक विवेचना पर निर्भर करता है।

स्यात्, दो प्रमुख प्रकार के दर्शनों को—ऐसे दर्शनों को, जो तत्त्वतः मानसिक हैं तथा वे जो आध्यात्मिक उपलब्धियों पर आधारित हैं—समझने तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करने की दिशा में यह एक बहुत बड़ी स्पष्टता

प्रदान करता है। दर्शनों को उनसे संवद्ध स्तरों के मानदंड से ही मापने का मार्ग अवलंवन कर हम विभिन्न मानसिक तथा आध्यात्मिक दर्शनों के वीच भी सामंजस्य पा सकते हैं। सभी मानसिक दर्शन वौद्धिक प्रणाली के गुण-धर्म, वाणी की अभिव्यक्ति की मर्यादाओं और विचारों के प्रतिनिधिभाव से सीमित होते हैं। वुद्धि पर 'अविचार' का प्रभाव भी इन दर्शनों में अपना कार्य कर सकता है। आध्यात्मिक प्रभाव के चेतन अथवा अचेतन रीति से प्रवेश की संभावना को भी अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। इन दर्शनों के क्षेत्र में सृजन-क्षमता इन तत्त्वों से सीमित तथा प्रशासित होती है, और यदि हम उनका तथा उनकी क्रियाओं का मूल्यांकन कर सकें, तो हमें इस वात पर आश्चर्य नहीं होगा कि ये दर्शन एक सीमित ढंग से ही सृजनात्मक हैं। विचार का यह ढंग विभिन्न मानसिक दर्शनों में पारस्परिक सामंजस्य तथा मेल-मिलाप कराने में समर्थ हो सकता है, चाहे वे कितने भी विरोधात्मक एवं विभिन्न क्यों न हों।

साधारणतया यह देखने में आता है कि विभिन्न आध्यात्मिक दर्शनों का परस्पर मेल एक कठिन कार्य होता है। श्रीअरविन्द ने अपने पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभूति में यह पाया है किआत्मा की विविधता तथा समृद्धि मन से अधिक है। ठीक जिस प्रकार मन किसी वस्तु की विचारात्मक विवेचना नाना संभव दृष्टिकोणों से कर सकता है, और ये दृष्टिकोण उतने हो सकते हैं जितने कि परिस्थितियों द्वारा निर्मित विचारों के वर्ग। उसी प्रकार मानवात्मा को उस सत्य के अनन्त रूपों का दर्शन हो सकता है, जो प्रकृत्या निरपेक्ष है। ये सभी रूप उस निरपेक्ष सद्वस्तु के विविध सत्यों को प्रदर्शित करते हैं और पूर्ण सत्य की धारणा में एक पारस्परिक वोधगम्य संवंध स्थापित करते हैं।

इस प्रकार मानसिक तथा आध्यात्मिक दर्शनों में एक-दूसरे से तथा एक-दूसरे के विभिन्न रूपों में मेल या एक समझौता हो जाता है। इनसे संवद्ध व्यक्तित्व तथा अनुभूति के स्तरों की दृष्टि से इनका उचित मूल्यांकन भविष्य का विषय है, किन्तु श्रीअरविन्द ने इस मार्ग को अपनाया

तथा इसकी उपयोगिता को पर्याप्त मात्रा में प्रदर्शित किया और ऐसा करके उन्होंने दर्शन की विभिन्न खोज-वीनों में एक-दूसरे को समझने-सराहने की तथा पूर्ण दर्शन की दुष्कर खोज में उनकी सहकारिता की, संभावना को दर्शाया।[1]

दर्शनों को, जिन अनुभूतियों के स्तरों तथा व्यक्तित्व के अंगों से वे संवद्ध प्रतीत होते हैं, उन्होंने उनका सम्बन्ध दर्शाकर उनमें परस्पर सम-स्वरता स्थापित करने का प्रयास निश्चित ही आत्मलक्षी मार्गावलंबन-सा लगेगा, जो उस वस्तुमुखापेक्षी ज्ञान को महत्त्व नहीं देता, जिसे दर्शन ढूंढ़ता है तथा जिसे वह मान्यता देता है, किन्तु इस विषय का समीक्षा-त्मक विवेचन यह वतलायेगा कि हमारी अनुभूति भिन्न प्रकार के वस्तु-मुखी वर्गों को सूचित तथा परिलक्षित करती है। ऐन्द्रियक अनुभूति, वौद्धिक विवेचना और आध्यात्मिक अनुभूति, इन सवों की अपनी निजी वस्तुलक्षिता तथा आवश्यकता है। आत्मलक्षी स्तरों की अनुभूति का निर्देश उनकी परस्पर-संवद्ध वस्तुलक्षिता का स्वयं प्रमाण है। अतएव यह मार्गावलंवन दर्शन की वस्तुलक्षिता को निर्मूल नहीं करता अपितु वस्तुतः उस वस्तुलक्षिता को निर्धारित करने की एक सरल विधि प्रदान करता है।

धर्म तो विरोध-शमन के लिए उससे भी कठिन क्षेत्र उपस्थित करता है, क्योंकि इसका प्रत्येक स्पष्ट रूप अपनी सत्यानुभूति के लिए निरपेक्षता का दावा करता है। धर्म के दर्शन ने अव यह स्थिर किया है कि प्रत्येक धर्म दो भागों में विभक्त है : एक तो विधि तथा कर्मकांड का और दूसरा अनुभूति का। पहला दूसरे के कारण है। इसलिए धर्मस्थ अनुभूति ही धर्म का वास्तविक सार है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि प्रत्येक धर्म साधारणतया भगवान्, सत्य का सद्‌वस्तु के साथ सम्बन्ध तथा उसकी

---

१. "एकता में अनेकता अभिव्यक्ति का विधान है, अतिमानसिक एकीकरण तथा संयुक्तीकरण इन अनेकताओं को अवश्य समन्वित करेगा, किन्तु उनका मूलोच्छेद कर देना प्रकृतिस्थ आत्मा का उद्देश्य नहीं है।" ('दिव्य जीवन')

अनुभूति का एक गुण-वैशिष्ट्य व्यक्त करता है तथा पूर्णानुभूति में इसका अपना विशेष स्थान होता है। तव यदि धर्म को भगवान् की पूर्ण अनुभूति की गवेषणा समझ लिया जाय, तो इसका प्रत्येक साम्प्रदायिक रूप एक सहायक उपादान सिद्ध होगा।[1] इस प्रकार का मेल विभिन्न मानव-संस्कृतियों में भी संभव है। प्रत्येक संस्कृति किसी राष्ट्र के समग्र जीवन की एक विशेष अभिव्यक्ति तथा व्यक्तित्व-निर्माण के एक विशेष आदर्श का प्रतिनिधि-रूप होती है। उदाहरणार्थ, यूनानी 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के आदर्श के निदर्शन में अपना जीवन ढालना चाहते थे। वे एक उच्च मानसिक संस्कृति के प्रतिनिधि-रूप थे। दूसरी ओर आधुनिक यूरोप मुख्यत: विज्ञान तथा शिल्पकला द्वारा जीवन के संघटन तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्रयत्नशील रहा, इसका परिणाम हुआ रहन-सहन की दशा में सुधार। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने आत्मा को अपना प्रधान विषय वनाया और मुख्यतः इसी आधार पर अपने को घढ़ा। यह स्पष्ट है कि इन तीन महान् संस्कृतियों ने मानव-व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न भागों की खोज की तथा उन्हें विशेष रूप से उन्नत किया—यूनानियों के मन को, आधुनिक यूरोप ने शरीर तथा जीवन को और प्राचीन भारत ने आत्मा को। मनुष्य की एक समग्र संस्कृति की परिकल्पना में इन सवका अपना एक विशेष अनुदान है और वे, जो सांस्कृतिक जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति चाहते हैं, इन सवका हार्दिक अभिनन्दन करेंगे। इसी भांति, यह भी दिखाया जा सकता है कि उन सभी संस्कृतियों में, जिनका विकास मनुष्य ने किया, कुछ-न-कुछ विशेष गुण थे, जो अवश्य ही मनुष्य की पूर्ण संस्कृति के लिए अनुदानस्वरूप हैं।

इस प्रकार, श्री अरविन्द में अपनी शिक्षा, अपनी प्रतिभा तथा अपनी

---

१. अनेकता तथा विषमता के पीछे एकता प्राय: सभी मानव-धर्मों तथा दर्शनों का रहस्य है; क्योंकि वे सभी सत्य का कोई प्रतिविम्व अथवा आंशिक संकेत ग्रहण करते हैं तथा एक ही सत्य के किसी अंश को स्पर्श करते या इसके अनन्त रूपों में से किसी एक को व्यक्त करते हैं।

रुचि के कारण आज की विश्व-स्थिति का सामना करने तथा एक विश्व-दर्शन प्रस्तुत करने की पूर्ण योग्यता थी। हमने यह भी दर्शाया है कि किस प्रकार समग्र अनुभूति का लक्षण जानकर, जिसे उन्होंने अतिमानस की संज्ञा दी, वह पूर्ण-व्यक्तित्वपरक अपने उस विचार पर पहुंच सके, जो विश्व के विविध धर्मों, दर्शनों और संस्कृतियों का परस्पर विरोध-शमन तथा मेल-मिलाप करने की विधि प्रदान कर सकता है।

किन्तु विश्व-दर्शन का काम केवल विरोध-शमन तक ही सीमित नहीं होना चाहिए। गतिशील जीवन में सतत विकास तथा समृद्धि के लिए इसे सामग्री भी जुटानी होगी। यदि विश्व-दर्शन का अर्थ विचार तथा धारणा में एकरूपता हो, तो यह सृजनात्मकता को निर्बल कर देगा। सौभाग्यवश श्रीअरविन्द का दर्शन उसी पूर्णानुभूति, पूर्ण व्यक्तित्व और पूर्ण सत्य की परिकल्पना द्वारा पृथक् एवं अनुपम खोजों तथा प्रगति को प्रोत्साहित करता और उनके लिए सामग्री जुटाता है। एकता में विविधता सन्निहित है, और गतिशील जीवन में इस तथ्य का विकसनशील होना आवश्यक है, अर्थात् इसे अपने को वर्द्धनशील रूप से समृद्ध करना होगा। अतः यदि हम सत्य के वास्तविक स्वरूप तथा व्यक्तित्व और अनुभूति के पूर्ण क्षेत्र से परचित हों, तो दर्शन तथा संस्कृति सदा ही सृजनात्मक हो सकते हैं। ये असृजनात्मक तभी हो जाते हैं जब हम उस बोध को खो देते हैं, या स्वेच्छावश कुछ यांत्रिक संकीर्णताओं से आवद्ध हो जाते हैं।

हमने प्राचीन भारत, प्राचीन चीन, प्राचीन यूनान तथा अर्वाचीन यूरोप को दार्शनिक निर्माण के महान् स्थल बतलाया है। इनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने विशिष्ट गुण प्रदान किये हैं, जो विश्व-दर्शन की स्थायी पूंजी हैं। परन्तु इनमें से प्रत्येक की अपनी मर्यादाएं भी हैं। अगर श्रीअरविन्द-दर्शन को समग्र विचार की दृष्टि से देखा जाय, तो प्रतीत होगा कि उन्होंने पूर्ण के एक वास्तविक रूप को देखा है तथा सजीव पूर्णता के वह एक क्रियाशील तथा वर्द्धनशील द्रष्टा हैं। प्रत्येक में क्या सत्य है तथा

परिपूर्णता के लिए उसकी भावी गति क्या होनी चाहिए, यह भी हमें दिखलायी पड़ने लगता है।

अब यदि हम भारतीय दर्शन को लें, तो हम कह सकते हैं कि शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि वेदान्त के महामहिम आचार्यों के बाद पुनः श्रीअरविन्द वेदान्त की एक पूर्ण मौलिक पद्धति हमारे सामने रखते हैं। न्यूनाधिक रूप में, अनेक सदियों की असृजनात्मक स्थिति के बाद, भारतीय दर्शन का उनके हाथों कायाकल्प हुआ और यह नूतन पद्धति सम्पूर्ण आधुनिक विश्व तथा इसकी जटिल एवं विशाल अनुभूति का डटकर सामना करती है, तथा सब-कुछ का कारण समझाती है। बड़ी प्रसन्नता से वह विश्व को ब्रह्म की विकसनशील अभिव्यक्ति का क्षेत्र मानती है। भौतिक विज्ञान तथा तकनीकी विज्ञान को भी यह भौतिक जीवन के संगठन का साधन मानती है, किन्तु केवल साधन-स्वरूप ही। उसकी परिणति है आत्मा का उन्मीलन। आत्मा शब्द यहां विकास के एक क्रम का द्योतक है, जो मानव-जीवन के सामान्य धर्मानुसार मन के पीछे प्रकट, होनेवाला है, ठीक जैसेकि अन्न तथा प्राण के पश्चात् मन प्रकट हुआ था। व्यक्ति का अब कोई पूर्णांक नहीं रहा और न उसकी एकान्तिक मुक्ति का अब कोई लक्ष्य रह गया है। विश्वरूपता व्यक्ति का एक प्रमुख पहलू है और यदि जाति की प्रगति नहीं होती, तो व्यक्ति यथार्थतः अपूर्ण रह जाता है। जातीय परिपूर्णता ही लक्ष्य है तथा व्यक्तिगत मुक्ति इस प्रक्रिया में एक साधन है। इस प्रकार मनुष्य का सामाजिक जीवन अपना अत्यावश्यक दार्शनिक समर्थन पाता है। त्याग, कर्म और पुनर्जन्म, सब में एक कमनीय परिवर्तन आता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन नवीन और सृजनात्मक तथा आज के विश्व के समक्ष आत्मविश्वास से पूर्ण तथा अतीत से भी एक महत्तर भविष्य के प्रति आशा से पूर्ण हो जाता है। यह अपने विश्व-प्रसंग के प्रति भी सचेतन हो जाता है। उन सभी समस्याओं को, जो विश्व के सामने हैं, यह समझता है। समस्याओं के अन्यान्य समाधानों का भी यह आदर करता है, परन्तु अपने विशिष्ट

समाधान में विश्वास रखकर यह उन समस्याओं का अपना निजी निदान-विशेष प्रदान करने का प्रयास करता है।

पाश्चात्य दर्शन श्रीअरविन्द के पूर्ण दर्शन के प्रकाश में अपने अभिनव रूप में प्रकट होता है। बुद्धिवाद एवं प्रयोगवाद के इसके प्रमुख स्वर एक नये सिरे से समर्थन तथा अर्थ-विस्तार पाते हैं। पूर्व और पश्चिम में रहस्यवाद ने बुद्धि की प्रायः अवहेलना की है, किन्तु श्रीअरविन्द का दर्शन आध्यात्मिक होते हुए भी बुद्धि को मान्यता देता है।[1] मनुष्य के वर्तमान विकास की अवस्था में यह बुद्धि को कार्य तथा संगठन का एक अनिवार्य करण मानता है। इसके बिना हम न तो अपनी बाह्य स्थिति को संगठित कर सकते हैं और न संयत ढंग से कार्य ही कर सकते हैं। बुद्धि हमारे विचारों को सजाती तथा संगठित करती है और उन्हें एक क्रमिक रूप देती है, जिसका अर्थ है फलोत्पादक आदान-प्रदान, समझ और कर्म, किन्तु यह उन वस्तुओं के उपरितलीय गुणों के आधार पर कार्य करती है, जिसके सम्पर्क में इन्द्रियां आती हैं तथा थोड़ा-थोड़ा करके उपरितलीय गुणों के परे के तथ्यों का अनुमानसिद्ध ज्ञान सृष्ट करने का प्रयास करती हुई श्रमपूर्वक आगे बढ़ती है। वस्तुओं के सारतत्त्व अथवा उनके वास्तविक स्वरूप तक इसकी प्रत्यक्ष पहुंच नहीं है।

स्पष्टतया यह बुद्धि का समर्थन है तथा साथ-ही-साथ इसकी परिमितता का प्रदर्शन और ज्ञान के अन्यान्य करणों का निदर्शन भी है, जो पाश्चात्य बुद्धिवादी दर्शन का अन्यान्य दर्शनों के साथ सरलता से मेल करा सकेंगे तथा उसे स्वयं उसकी और भी अधिक प्रगति का एक सम्भव मार्ग दिखलायेंगे।

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि पाश्चात्य दर्शन का प्रयोगवाद श्री-अरविन्द से और भी अधिक जबर्दस्त समर्थन प्राप्त करता है। उनका दर्शन मूलतः यौगिक पद्धति से निर्धारित होता है। किसी विशेष प्रसंग

१. "हमारे पूर्ण ज्ञान का सिद्धान्त मन को एक रचनात्मक सिद्धान्त, सत्ता की एक शक्ति के रूप में मान्यता तथा अभिव्यक्ति में इसे अपना स्थान देता है।"

में वह कहते हैं, "हमारे जानने की पद्धति, जो कुछ हमें जानना है उसके योग्य ही होनी चाहिए।"[1] इसका अर्थ है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां तथा बुद्धि बाह्य संसार की ससीम वस्तुओं के ज्ञान की ही आदी हैं, परन्तु यदि हम निःसीम अस्तित्व के आंतरिक सत्यों को जानना चाहें तो स्पष्टतया ज्ञान के अन्य साधनों को लाना होगा और इनको समुन्नत तथा सुसंस्कृत करना होगा। केवल प्रत्यक्ष अनुभूति ही ज्ञान के लिए सन्तोषप्रद मार्ग है, किन्तु यह अनुभूति ऐन्द्रियक विषयों तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य में ज्ञान के ऐसे भी करण हैं, जिनके लिए परम सत्य भी प्रत्यक्षानुभूति के विषय बन सकें। इस प्रकार पाश्चात्य मन की प्रयोगात्मक प्रकृति तथा विज्ञान, जिसने इसकी स्थापना की, एक महान् निधि बन जाते हैं, क्योंकि इन्हींके विस्तार में विश्व की समस्याओं का सच्चा निदान निहित है।

श्रीअरविन्द का दर्शन पाश्चात्य दर्शन को, मन के अतिरिक्त आत्मा की यथार्थता को, पहचानने की आवश्यकता का तथा व्यक्तित्व और अस्तित्व पर विचार करते समय इनकी पूर्ण उपयोगिता का, अधिक स्पष्ट रूप से ज्ञान देगा। इस प्रकार यह पश्चिमी दर्शन को अपनी निजी वृहत्तर अनुभूति की ओर प्रवृत्त करेगा और पश्चिमी दर्शन के लिए इसका अर्थ सतत विकास की संभावना का और विश्व-दर्शन के लिए अपने विशिष्ट गुणों का वर्द्धनशील अनुदान होगा।

चीनी दर्शन प्रमुखतया सामाजिक अथवा समाजशास्त्रीय पद्धति से जीवन एवं अस्तित्व की समस्याओं का निदान देने के लिए विख्यात है। 'समाज में मनुष्य' ही वह तथ्य है, जिसने चीनी मन को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया तथा इसके विचार तथा चिंतन का स्थायी आधार रहा। 'समाज में मनुष्य' जीवन का एक महान् तथा स्पष्ट सत्य है और अवश्य ही 'विश्व-दर्शन' को चीनी चिंतन की यह एक स्थायी देन होगी। यह सत्य श्रीअरविन्द की पद्धति में एक सुन्दर दार्शनिक समर्थन पाता है।

---

१. 'दिव्य जीवन'

व्यष्टि समष्टि का एक पृथक् अस्तित्व तथा करण है। यह विश्व में तथा विश्व के द्वारा स्थित है।[१] इसलिए व्यक्ति-पुरुष अपने को समाज से कभी दूर नहीं रख सकता। संस्कृति तथा विकास की दृष्टि से अपनी जाति तथा समाज के द्वारा उसका निर्माण होता है और उनके प्रति वह कर्त्तव्य का ऋणी है, क्यों कि उमीके द्वारा वे अपने स्वभाव तथा स्वधर्म में वर्द्धित एवं विकसित होते हैं।[२] पर श्रीअरविंद यह भी कहते हैं कि विकास का अर्थ है परात्परता तथा उसकी प्राप्ति, जो यथार्थ से परे तथा उसके उपर है। अतः व्यक्ति और विश्व परात्पर से भी संयुक्त हैं। यह चीनी विचारधारा के प्रमुख दृष्टिबिंदु की एक सुन्दर व्याख्या तथा प्रतिपादन है, किन्तु श्रीअरविन्द के समग्र चिंतन का पूर्ण प्रभाव चीनी दर्शन को इन तीन शब्दों के तात्पर्य तथा अर्थ-विस्तार की चरम सीमा तक जाने के लिए आमंत्रित एंव प्रेरित करेगा। वह चीनी दर्शन के लिए परम सत्य का एक आधार प्रस्तुत करेगा, जो उसे अपने निजी मार्ग तथा पद्धति के साथ समस्वरता रखता हुआ सृजन का एक अनन्त क्षेत्र प्रदान करेगा।

यहां हम विश्व-दर्शन की समस्या पर विचार करते रहे हैं और हमने निश्चयात्मक रूप से कहा है कि जैसे-जैसे विश्व एकता की ओर बढ़ रहा है, एक विश्व-दर्शन का आविर्भाव भी निश्चित ही है, परन्तु यदि इसे केवल विभिन्न दर्शनों का सार-संग्रह नहीं होना है, तो इसकी एक निजी मौलिक धारणा तथा अन्विति होनी चाहिए। हम यह स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं कि यह धारणा तथा एकता पूर्ण व्यक्तित्व की और पूर्ण

---

१. "सांत अनन्त की एक परिस्थिति है, उसका विरोध नहीं; व्यक्ति विश्व तथा परात्पर की आत्माभिव्यक्ति है, यह उसका विरोध नहीं और न उससे सर्वथा भिन्न कोई वस्तु है। यह घनीभूत तथा चयनात्मक विश्वरूप है, यह अपनी सत्ता तथा प्रकृति के सार में परात्पर के साथ एक है।" ('दिव्य जीवन')

२. "मुक्तात्मा अपनी एकता की धारणा समतलीय तथा लंबकीय रूप से भी विस्तारित करता है। परात्पर एकमेव के साथ इसकी एकता विश्वगत बहु के साथ एकता के बिना अपूर्ण है।" ('दिव्य जीवन')

अनुभूति की ही होनी चाहिए और इसलिए ये परिणाम विश्व-दर्शन की आवश्यक पूर्वाकांक्षित शर्त होंगे।

अभी यह विश्व-दर्शन हमारे मानस-क्षितिज पर एक समस्या के रूप में प्रकट हो रहा है और हम इसकी शर्तों तथा शक्यताओं की जांच-पड़ताल करते हैं। हम इसके किसी प्रतिनिधि की खोज के प्रति प्राय: उदासीन हैं; क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि इतनी जल्दी इसकी आशा नहीं की जा सकती, किन्तु श्रीअरविन्द में हम विश्व-दर्शन के एक सच्चे जनक को पाते हैं। उनकी शिक्षा तथा सहज प्रतिभा ने उन्हें विभिन्न दर्शनों, मार्गों और जीवन तथा अस्तित्व के विभिन्न दृष्टिकोणों की एक व्यापक गुणग्राहिता प्रदान की प्रतीत होती है। पूर्णता में उनकी प्रगाढ़ रुचि ने, चाहे वह व्यक्ति के सम्बन्ध में हो अथवा अनुभूति या सद्वस्तु के विषय में, जो समग्र अनुभूति की वास्तविक प्रकृति का पता लगा सकी तथा जिसे उन्होंने अतिमानस की संज्ञा दी, उन्हें ऐसे व्यापक आधार के दर्शन का स्वरूप स्पष्ट करने की क्षमता दी, जो विश्व-दर्शन का आदर्श प्रदान करता है। यह दर्शन विभिन्न महादेशीय व जातीय दर्शनों का न केवल मेल कराता तथा उनकी व्याख्या करता है, अपितु उन्हें एकता की संभावना भी प्रदान करता है तथा प्रत्येक को अपनी-अपनी पद्धति-विशेष का अवलंबन करते हुए समृद्धतर विकास का सुनिश्चित स्थान प्रदान करता है। विश्व-दर्शन को सर्वप्रथम एक ऐसी समग्रता का भाव दर्शाना चाहिए, जो प्रत्येक भाग को अपने समुचित स्थान के विषय में अधिक आश्वस्त कर सके तथा भावी अस्तित्व के लिए एक वृहत्तर भूमिका प्रदान कर सके। श्रीअरविन्द का दर्शन सभी दर्शनों के लिए वैसा ही करता है। अतएव विश्व-दर्शन के युग का यह शुभारंभ प्रतीत होता है।
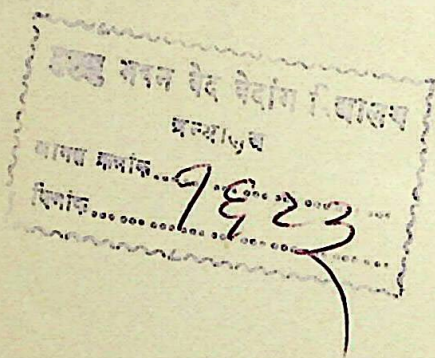
'मंडल' का

विचार-प्रेरक साहित्य

सच्ची आजादी
आजाद बनो
दक्षिण की सरस्वती
साहित्य और जीवन
रूप और स्वरूप
जीवन की चुनौती
जीवन-क्रांति की दिशा
हम करें क्या ?
क्रांति की भावना
आगे बढ़ो
दिव्य जीवन
परम सखा मृत्यु